समर्पण

श्रीमान् पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी की सेवा में—

आर्य्य !

पाई तुम्हींसे वस्तु जो कैसे तुम्हें अर्पण करूँ ?
पर क्या परीक्षा-रूप में पुस्तक न यह आगे धरूँ ?
अतएव मेरी धृष्टता यह ध्यान में मत दीजिए,
कृपया इसे स्वीकार कर कृत-कृत्य मुझको कीजिए ॥

अनुचर
मैथिलीशरण

श्रीगणेशाय नमः

जयद्रथ-वध

प्रथम सर्ग

वाचक ! प्रथम सर्वत्र ही 'जय जानकी जीवन' कहो,
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा-तरङ्गों में बहो।
दुःख, शोक जब जो आ पड़े, सो धैर्यपूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं कर्त्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो ॥

अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।
इस तत्त्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ,
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ ॥

सब लोग हिल मिलकर चलो, पारस्परिक ईर्ष्या तजो,
भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो।
हो स्वप्नतुल्य सदैव को सब शौर्य सहसा खो गया,
हा ! हा ! इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया ॥

दुर्वृत्त[1] दुर्योधन न जो शठता-सहित हठ ठानता,
जो प्रेम-पूर्वक पाण्डवों की मान्यता को मानता
तो डूवता भारत न यों रण-रक्त-पारावार[2] में,
'ले डूवता है एक पापी नाव को मँझधार में'।

हा ! वन्धुओं के ही करों से वन्धुगण मारे गये !
हा ! तात से सुत, शिष्य से गुरु, स-हठ संहारे गये !
इच्छा-रहित भी वीर पाण्डव रत हुए रण में अहो !
कर्त्तव्य के वश विज्ञ जन क्या क्या नहीं करते कहो ?

यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है,
जिस विषय से सम्वन्ध हो वह जान लेने योग्य है,
अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहाँ,
अनुमान थोड़े से वहुत का है किया जाता यहाँ ॥

रणधीर द्रोणाचार्य्य-कृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह को,
शस्त्रास्त्र-सज्जित, ग्रथित, विस्तृत, शूरवीर-समूह को,
जव एक अर्जुन के विना पाण्डव न भेदन कर सके,
तव वहुत ही व्याकुल हुए, सव यत्न कर करके थके ॥

यों देखकर चिन्तित उन्हें धर ध्यान समरोत्कर्ष का,
प्रस्तुत हुआ अभिमन्यु रण को शूर षोडप वर्ष का।
वह वीर चक्रव्यूह-भेदन में सहज सज्ञान था,
निज जनक अर्जुन-तुल्य ही वलवान था, गुणवान था ॥

१. वुरे चरित्रवाला, २. रण=युद्ध, रक्त=खून, पारावार=समुद्र ।

"हे तात ! तजिए सोच को, है काम ही क्या क्लेश का ?
मैं द्वार उद्घाटित करूँगा व्यूह-बीच प्रवेश का।"
यों पाण्डवों से कह, समर को वीर वह सज्जित हुआ,
छवि देख उसकी उस समय सुरराज भी लज्जित हुआ ॥

नर-देव-सम्भव[1] वीर वह रण-मध्य जाने के लिए,
बोला वचन निज सारथी से रथ सजाने के लिए।
यह विकट साहस देख उसका, सूत विस्मित हो गया;
कहने लगा इस भाँति फिर वह देख उसका वय नया—

"हे शत्रुनाशन ! आपने यह भार गुरुतर है लिया,
हैं द्रोण रण-पण्डित, कठिन है व्यूह-भेदन की क्रिया।
रण-विज्ञ यद्यपि आप हैं पर सहज ही सुकुमार हैं,
सुख-सहित नित पोषित हुए निज वंश-प्राणाधार हैं ॥"

सुन सारथी की यह विनय बोला वचन वह वीर यों—
करता घनाघन[2] गगन में निर्घोष अति गम्भीर ज्यों।
"हे सारथे ! हैं द्रोण क्या, देवेन्द्र भी आकर अड़े,
है खेल क्षत्रिय बालकों का व्यूह-भेदन कर लड़े ॥

श्रीराम के हयमेध से अपमान अपना मान के,
मख-अश्व जब लव और कुश ने जय किया रण ठान के।
अभिमन्यु षोडश वर्ष का फिर क्यों लड़े रिपु से नहीं,
क्या आर्य-वीर विपक्ष-वैभव देखकर डरते कहीं ?

१. मनुष्यरूपी देवता से उत्पन्न, २ बरसनेवाला मेघ।

सुनकर गजों का घोष उसको समझ निज अपयश-कथा,
उनपर झपटता सिंह-शिशु भी रोष कर जब सर्वथा।
फिर व्यूह-भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो,
क्या वीर-बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहो ?

मैं सत्य कहता हूँ, सखे ! सुकुमार मत मानो मुझे,
यमराज से भी युद्ध को प्रस्तुत सदा जानो मुझे !
है और की तो बात ही क्या, गर्व मैं करता नहीं,
मामा[1] तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं ॥

ज्यों ऊनषोडश[2] वर्ष के राजीवलोचन राम ने,
मुनि-मख किया था पूर्ण वध कर राक्षसों को सामने।
कर व्यूह-भेदन आज त्यों ही वैरियों को मार के,
निज तात का मैं हित करूँगा विमल यश विस्तार के ॥"

यों कह वचन निज सूत[3] से वह वीर रण में मन दिये,
पहुँचा शिविर में उत्तरा से विदा लेने के लिए।
सब हाल उसने निज प्रिया से जब कहा जा कर वहाँ,
कहने लगी तब वह स्वपति के अति निकट आकर वहाँ—

"मैं यह नहीं कहती कि रिपु से जीवतेश लड़ें नहीं,
तेजस्वियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं !
मैं जानती हूँ नाथ ! यह, मैं मानती भी हूँ तथा—
उपकरण[4] से क्या शक्ति में ही सिद्धि रहती सर्वथा ॥

१ श्रीकृष्ण, २. पन्द्रह, ३. सारथी, ४. सामग्री।

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिये जो आप ही।
जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालतीं—
होकर सती भी वह कहाँ कर्त्तव्य अपना पालतीं?

अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे सच जानिए,
मत जाइए सम्प्रति समर में प्रार्थना यह मानिए।
जाने न दूंगी आज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में,
उठती बुरी हैं भावनाएँ, हाय मम हृद्धाम में!

है आज कैसा दिन न जाने, देव-गण अनुकूल हों;
रक्षा करें प्रभु मार्ग में जो शूल हों वे फूल हों।
कुछ राज-पाट न चाहिए, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही;
हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही॥"

कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये,
हिम के कणों से पूर्ण मानो हो गये पंकज नये।
निज प्राणपति के स्कन्ध पर रखकर वदन वह सुन्दरी,
करने लगी फिर प्रार्थना नाना प्रकार व्यथा-भरी॥

यों देखकर व्याकुल प्रिया को सान्त्वना देता हुआ,
उसका मनोहर पाणि-पल्लव हाथ में लेता हुआ।
करता हुआ वारण उसे दुर्भावना की भीति से,
कहने लगा अभिमन्यु यों प्यारे वचन अति प्रीति से—

"जीवनमयी, सुखदायिनी, प्राणाधिके, प्राणप्रिये !
कातर तुम्हें क्या चित्त में इस भाँति होना चाहिए ?
हो शान्त, सोचो तो भला, क्या योग्य है तुमको यही,
हा ! हा ! तुम्हारी विकलता जाती नहीं मुझसे सही ॥

वीर-स्नुषा[1] तुम वीर-रमणी, वीर-गर्भा हो तथा,
आश्चर्य, जो मम रण-गमन से हो तुम्हें फिर भी व्यथा !
हो जानती बातें सभी कहना हमारा व्यर्थ है;
बदला न लेना शत्रु से कैसा अधर्म अनर्थ है ?

निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना चाहिए,
बदला समर में वैरियों से शीघ्र लेना चाहिए।
पापी जनों को दण्ड देना चाहिए समुचित सदा,
वर वीर क्षत्रिय-वंश का कर्त्तव्य है यह सर्वदा ॥

इन कौरवों ने हा ! हमें सन्ताप कैसे हैं दिए,
सब सुन चुकी हो तुम इन्होंने पाप जैसे हैं किए।
फिर भी इन्हें मारे बिना हम लोग यदि जीते रहें,
तो सोच लो संसार भर के वीर हमसे क्या कहें ?

जिस पर हृदय का प्रेम होता सत्य और समग्र है,
उसके लिए चिन्तित तथा रहता सदा वह व्यग्र है।
होता इसी से है तुम्हारा चित्त चंचल हे प्रिये !
यह सोचकर सो अब तुम्हें शंकित न होना चाहिए—

१. स्नुषा=बहू।

रण में विजय पाकर प्रिये ! मैं शीघ्र आऊँगा यहाँ,
चिन्तित न हो मन में, न तुमको भूल जाऊँगा वहाँ !
देखो, भला भगवान ही जब हैं हमारे पक्ष में,
जीवित रहेगा कौन फिर आकर हमारे लक्ष[1] में ?"

यों धैर्य देकर उत्तरा को, हो विदा सद्भाव से;
वीराग्रणी अभिमन्यु पहुँचा सैन्य में अति चाव से।
स्वर्गीय साहस देख उसका सौगुने उत्साह से,
भरने लगे सब सैनिकों के हृदय हर्ष-प्रवाह से॥

फिर पाण्डवों के मध्य में अति भव्य निज रथ पर चढ़ा,
रणभूमि में रिपु-सैन्य-सम्मुख वह सुभद्रा-सुत बढ़ा।
पहले समय में ज्यों सुरों के मध्य में सजकर भले;
थे तारकासुर मारने गिरिनन्दिनी-नन्दन चले॥

वाचक ! विचारो तो जरा, इस समय की अद्भुत छटा,
कैसी अलौकिक घिर रही है शूरवीरों की घटा।
दुर्भेद्य चक्रव्यूह सम्मुख धार्तराष्ट्र[2] रचे खड़े,
अभिमन्यु उसके भेदने को हो रहे आतुर बड़े॥

तत्काल ही दोनों दलों में घोर रण होने लगा,
प्रत्येक पल में भूमि पर वर वीर-गण सोने लगा।
रोने लगीं मानो दिशाएँ पूर्ण हो रण-घोष से,
करने लगे आघात सम्मुख शूर-सैनिक रोष से॥

१. निशाना, २. दुर्योधनादिक धृतराष्ट्र के पुत्र।

इस युद्ध में सौभद्र[1] ने जो की प्रदर्शित वीरता,
अनुमान में आती नहीं उसकी अगम गम्भीरता।
जिस धीरता से शत्रुओं का सामना उसने किया,
असमर्थ हो उसके कथन में मौन वाणी ने लिया॥

करता हुआ कर-निकर[2] दुर्द्धर सृष्टि के संहार को,
कल्पान्त में सन्तप्त करता सूर्य्य ज्यों संसार को—
सब ओर त्यों ही छोड़कर निज प्रखरता शर-जाल को,
करने लगा वह वीर व्याकुल शत्रु-सैन्य विशाल को॥

शर खींच उसने तूण[3] से कब, किधर सन्धाना उन्हें,
बस विद्ध होकर ही विपक्षी वृन्द ने जाना उन्हें।
कोदण्ड[4] कुण्डल-तुल्य ही उसका वहाँ देखा गया,
अविराम रण करता हुआ वह राम-सम लेखा गया॥

कटने लगे अगणित भटों के रुण्ड-मुण्ड जहाँ तहाँ,
गिरने लगे कटकर तथा कर-पद सहस्रों के वहाँ।
केवल कलाई ही कुतूहल-वश किसी की काट दी,
क्षणमात्र में ही अरिगणों से भूमि उसने पाट दी।

करता हुआ वध वैरियों का वैर-शोधन के लिए
रण-मध्य वह फिरने लगा अति दिव्य-द्युति धारण किये।
उस काल सूत सुमित्र के रथ हाँकने की रीति से,
देखा गया वह एक ही दस-बीस-सा अति भीति से!

१. अभिमन्यु, २. कर=किरण, निकर=समूह, ३. तरकश ४. धनुष।

उस काल जिस जिस ओर वह संग्राम करने को गया,
भगते हुए अरि-वृन्द से मैदान खाली हो गया !
रथ-पथ कहीं भी रुद्ध उसका दृष्टि में आया नहीं;
सम्मुख हुआ जो वीर वह मारा गया तत्क्षण वहीं ।।

ज्यों भेद जाता भानु का कर अन्धकार-समूह को,
वह पार्थनन्दन घुस गया त्यों भेद चक्रव्यूह को।
थे वीर लाखों पर किसी से गति न उसकी रुक सकी,
सब शत्रुओं की शक्ति उसके सामने सहसा थकी ।।

पर साथ भी उसके न कोई जा सका निज शक्ति से,
था द्वार-रक्षक नृप जयद्रथ सबल शिव की भक्ति से।
अर्जुन बिना उसको न कोई जीत सकता था कहीं,
थे किन्तु उस संग्राम में भवितव्यता-वश वे नहीं ।।

तब विदित कर्ण-कनिष्ठ भ्राता बाण बरसा कर बड़े,
"रे खल ! खड़ा रह" वचन यों कहने लगा उससे कड़े।
अभिमन्यु ने उनको श्रवण कर प्रथम कुछ हँस भर दिया,
फिर एक शर से शीघ्र उसका शीश खण्डित कर दिया ।।

यों देख मरते निज अनुज को कर्ण अति क्षोभित हुआ,
सन्तप्त स्वर्ण-समान उसका वर्ण अति शोभित हुआ।
सौभद्र पर सौ बाण छोड़े जो अतीव कराल थे,
आः ! बाण थे वे या भयंकर पक्षधारी व्याल थे ।।

अर्जुन-तनय ने देख उनको वेग से आते हुए,
खण्डित किया झट बीच में ही धैर्य्य दिखलाते हुए।
फिर हस्तलाघव से उसी क्षण काट के रिपु चाप को,
रथ, सूत, रक्षक नष्ट कर सौंपा उसे सन्ताप को॥

यों कर्ण को हारा समझ कर चित्त में अति क्रुद्ध हो
दुर्योधनात्मज वीर लक्ष्मण आ गया फिर युद्ध को।
सम्मुख उसे अवलोक कर अभिमन्यु यों कहने लगा,
मानो भयंकर सिन्धु-नद हद तोड़कर बहने लगा—

"तुम हो हमारे बन्धु इससे हम जताते हैं तुम्हें,
मत जानियो तुम यह कि हम निर्बल बताते हैं तुम्हें;
अब इस समय तुम निज जनों को एक बार निहार लो,
यम-धाम में ही अन्यथा होगा मिलाप विचार लो।"

उस वीर को, सुनकर वचन ये, लग गई बस आग-सी,
हो क्रुद्ध उसने शक्ति छोड़ी एक निष्ठुर नाग-सी।
अभिमन्यु ने उसको विफल कर "पाण्डवों की जय" कही,
फिर शर चढ़ाया एक जिसमें ज्योति-सी थी जग रही॥

उस अर्द्धचन्द्राकार शर ने छूटकर कोदण्ड से,
छेदन किया रिपु-कण्ठ तत्क्षण फलक[1]-धार प्रचण्ड से।
होता हुआ इस भाँति भासित शीश उसका गिर पड़ा,
होता प्रकाशित टूटकर नक्षत्र ज्यों नभ से बड़ा॥

१. गाँसी।

तत्काल हाहाकार-युत रिपु-पक्ष में दुःख छा गया,
फिर दुष्ट दुःशासन समर में शीघ्र सम्मुख आ गया।
अभिमन्यु उसको देखते ही क्रोध से जलने लगा,
निश्वास वारंवार उसका उष्णतर चलने लगा ।।

"रे रे नराधम नारकी ! तू था वता अव तक कहाँ ?
मैं खोजता फिरता तुझे सव ओर कव से हूँ यहाँ।
यह देख, मेरा वाण तेरे प्राण-नाथ-निमित्त है,
तैयार हो, तेरे अघों का आज प्रायश्चित्त है !

सव सैनिकों के सामने ही आज वध करके तुझे,
संसार में माता-पिता से है उऋण होना मुझे।
मेरे करों से अव तुझे कोई वचा सकता नहीं,
पर देखना, रणभूमि से तू भाग मत जाना कहीं ।।"

कह यों वचन अभिमन्यु ने छोड़ा धनुष से वाण को,
रिपु-भाल में वह घुस गया झट भेद शी'-त्राण' को।
तव रक्त से भीगा हुआ वह गिर पड़ा पाकर व्यथा,
सन्ध्या समय पश्चिम-जलधि में अरुण रवि गिरता यथा ।।

मूर्च्छित समझ उसको समर से ले गया रथ सारथी,
लड़ने लगा तव नृप वृहद्वल उचित नाम महारथी।
कर खेल क्रीड़ासक्त हरि[2] ज्यों मारता करि[3] को कभी,
मारा उसे अभिमन्यु ने त्यों छिन्न करके तनु सभी ।।

१. सिर का कवच, २. सिंह ३. हाथी।

उस एक ही अभिमन्यु से यों युद्ध जिस जिसने किया,
मारा गया अथवा समर से विमुख होकर ही जिया।
जिस भाँति विद्युद्दाम से होती सुशोभित घन-घटा,
सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्रच्छटा॥

तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा,
"आचार्य! देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा!
रघुवर-विशिख से सिन्धु-सम सब सैन्य इससे व्यस्त है!
यह पार्थ-नन्दन पार्थ से भी धीर वीर प्रशस्त है!

होना विमुख संग्राम से है पाप वीरों को महा,
यह सोचकर ही इस समय ठहरा हुआ हूँ मैं यहाँ।
जैसे बने अब मारना ही योग्य इसको है यहीं,
सच जान लीजे अन्यथा निस्तार फिर होगा नहीं॥"

वीराग्रणी अभिमन्यु! तुम हो धन्य इस संसार में,
हैं शत्रु भी यों मग्न जिसके शौर्य्य-पारावार में।
होता तुम्हारे निकट निष्प्रभ तेज शशि का सूर का,
करते विपक्षी भी सदा गुण-गान सच्चे शूर का॥

तब सप्त रथियों ने वहाँ रत हो महा दुष्कर्म में—
मिलकर किया आरम्भ उसको विद्ध करना मर्म्म में—
कृप, कर्ण, दुःशासन, सुयोधन, शकुनि, सुत-युत द्रोण भी;
उस एक बालक को लगे वे मारने बहु विध सभी॥

अर्जुन-तनय अभिमन्यु तो भी अचल[1]-सम अविचल रहा,
उन सप्त रथियों का वहाँ आघात सब उसने सहा।
पर एक साथ प्रहार-कर्त्ता हों चतुर्दश कर जहाँ,
युग कर कहो, क्या-क्या यथायथ कर सकें विक्रम वहाँ ?

कुछ देर में जब रिपु-शरों से अश्व उसके गिर पड़े,
तब कूद कर रथ से चला वह, थे जहाँ वे सब खड़े,
जब तक शरीरागार[2] में रहते जरा भी प्राण हैं,
करते समर से वीर जन पीछे कभी न प्रयाण हैं ॥

फिर नृत्य-सा करता हुआ धन्वा लिए निज हाथ में,
लड़ने लगा निर्भय वहाँ वह शूरता के साथ में।
था यदपि अन्तिम दृश्य यह उसके अलौकिक कर्म्म का,
पर मुख्य परिचय भी यही था वीर जन के धर्म्म का ॥

होता प्रविष्ट मृगेन्द्र-शावक ज्यों गजेन्द्र-समूह में,
करने लगा वह शौर्य्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में।
तब छोड़ते कोदण्ड से सब ओर चण्ड-शरावली,
मार्तण्ड-मण्डल के उदय की छवि मिली उसको भली ॥

यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य रिपु खोने लगे,
उसके भयंकर वेग से अस्थिर सभी होने लगे।
हँसने लगा वह वीर उनकी धीरता यह देख के,
फिर यों वचन कहने लगा तृण-तुल्य उनको लेख के—

१. पर्वत २. शरीररूपी घर।

"मैं एक तुम बहु सहचरों से युक्त विश्रुत सात हो,
एकत्र फिर अन्याय से करते सभी आघात हो।
होते विमुख तो भी अहो! झिलता न मेरा वार है,
तुम वीर कैसे हो, तुम्हें धिक्कार सौ सौ वार है।"

उस शूर के सुन यों वचन बोला सुयोधन आप यों—
"है काल अब तेरा निकट करता अनर्थ प्रलाप क्यों?
जैसे बने निज वैरियों के प्राण हरना चाहिए,
निज मार्ग निष्कण्टक सदा सब भाँति करना चाहिए॥"

"यह कथन तेरे योग्य ही है" प्रथम यों उत्तर दिया,
खर-तर-शरों से फिर उसे अभिमन्यु ने मूर्च्छित किया।
उस समय ही जो पार्श्व से छोड़ा गया था तान के,
उस कर्ण-शर ने चाप उसका काट डाला आन के॥

तब खींचकर खर-खड्ग फिर वह रत हुआ रिपु-नाश में,
चमकीं प्रलय की बिजलियाँ घनघोर समराकाश में।
पर हाय! वह आलोक-मण्डल अल्प ही मण्डित हुआ,
वञ्चक-विपक्षी वृन्द से वह खड्ग भी खण्डित हुआ॥

यों रिक्त-हस्त[1] हुआ जहाँ वह वीर रिपु-संघात[2] में,
घुसने लगे सब शत्रुओं के बाण उसके गात में।
वह पाण्डु-वंश प्रदीप यों शोभित हुआ उस काल में—
सुन्दर सुमन ज्यों पड़ गया हो कण्टकों के जाल में॥

१. खाली हाथ २. शत्रु समूह।

संग्राम में निज शत्रुओं की देखकर यह नीचता,
कहने लगा वह यों वचन दृग युग करों से मीचता—
"निःशस्त्र पर तुम वीर बनकर वार करते हो अहो !
है पाप तुमको देखना भी पामरो ! सम्मुख न हो ॥

दो शस्त्र पहले तुम मुझे, फिर युद्ध सब मुझसे करो,
यों स्वार्थ-साधन के लिए मत पाप-पथ में पद धरो ।
कुछ प्राण-भिक्षा मैं न तुमसे माँगता हूँ भीति से,
बस शस्त्र ही मैं चाहता हूँ धर्म्म-पूर्वक नीति से ॥

कर में मुझे तुम शस्त्र देकर फिर दिखाओ वीरता,
देखूँ, यहाँ फिर मैं तुम्हारी वीरता, गम्भीरता ।
हो सात क्या, सौ भी रहो तो भी रुलाऊँ मैं तुम्हें,
कर पूर्ण रण-लिप्सा[1] अभी क्षण में सुलाऊँ मैं तुम्हें ॥

निःशस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है,
स्वीकार करता बात यह सब शूर-जन-समुदाय है ।
पर जानकर भी हा ! इसे आती न तुमको लाज है,
होता कलंकित आज तुमसे शूरवीर-समाज है ॥

हैं नीच ये सब शूर पर आचार्य्य ! तुम 'आचार्य्य' हो,
वरवीर-विद्या-विज्ञ मेरे तात-शिक्षक आर्य्य हो ।
फिर आज इनके साथ तुमसे हो रहा जो कर्म्म है,
मैं पूछता हूँ, वीर का रण में यही क्या धर्म्म है ?

१. लिप्सा=इच्छा ।

"यह सत्य है कि अधर्म्म से मैं निहित होता हूँ अभी,
पर शीघ्र इस दुष्कर्म का तुम दण्ड पाओगे सभी।
क्रोधाग्नि ऐसी पाण्डवों की प्रज्वलित होगी यहाँ,
तुम शीघ्र जिसमें भस्म होगे तूल[1]-तुल्य जहाँ तहाँ ॥

मैं तो अमर होकर यहाँ अब शीघ्र सुरपुर को चला,
पर याद रक्खो, पाप का होता नहीं है फल भला।
तुम और मेरे अन्य रिपु पामर कहावेंगे सभी,
सुनकर चरित मेरा सदा आँसू बहावेंगे सभी ॥

हे तात ! हे मातुल ! जहाँ हो है प्रणाम तुम्हें वहीं,
अभिमन्यु का इस भाँति मरना भूल मत जाना कहीं ?"
कहता हुआ वह वीर यों रण-भूमि में फिर गिर पड़ा,
हो भंग श्रृंग सुमेरु गिरि का गिर पड़ा हो ज्यों वड़ा ॥

इस भाँति उसको भूमि पर देखा पतित होते यदा,
दुःशील दुःशासन तनय ने शीश में मारी गदा।
दृग बन्द कर तब वह यशोधन सर्वदा को सो गया,
हा ! एक अनुपम रत्न मानो मेदिनी का खो गया ॥

हे वीरवर अभिमन्यु ! अब तुम हो यदपि सुर-लोक में,
पर अन्त तक रोते रहेंगे हम तुम्हारे शोक में।
दिन दिन तुम्हारी कीर्ति का विस्तार होगा विश्व में,
तव शत्रुओं के नाम पर धिक्कार होगा विश्व में ॥

१. रुई।

द्वितीय सर्ग

इस भाँति पाई वीरगति सौभद्र ने संग्राम में,
होने लगे उत्सव निहत भी शत्रुओं के धाम में।
पर शोक पाण्डव-पक्ष में सर्वत्र ऐसा छा गया,
मानो अचानक सुखद जीवन-सार सर्व विला गया ॥

प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा संवाद पाकर विष-भरा,
चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो, रह गई हत उत्तरा।
संज्ञा रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी,
उस काल मूर्च्छा भी अहो ! हितकर हुई उसको बड़ी ॥

कुछ देर तक दुर्दैव ने रहने न दी यह भी दशा,
झट दासियों से की गई जागृत वहाँ वह परवशा।
तब तपन नामक नरक से भी यातना पाकर कड़ी,
विक्षिप्त-सी तत्क्षण शिविर से निकल कर वह चल पड़ी ॥

अपने जनों द्वारा उठाकर समर से लाये हुए,
व्रण-पूर्ण, निष्प्रभ और शोणित-पंक से छाये हुए।
प्राणेश-शव के निकट जाकर चरम दुःख सहती हुई,
वह नव-वधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ ! हा" कहती हुई ॥

इसके अनन्तर अंक में रक्खे हुए सुस्नेह से,
शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पति के देह से—
मानो निदाघारम्भ में सन्तप्त आतप जाल से,
छादित हुई विपिनस्थली नव-पतित किंशुक-शाल से।

फिर पीटकर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई,
कुररी-सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई;
बहु विध विलाप-प्रलाप वह करने लगी उस शोक में,
निज प्रिय-वियोग समान दुःख होता न कोई लोक में ॥

"मति,गति,सुकृति,धृति,पूज्य,पति,प्रिय,स्वजन,शोभन-संपदा,
हा ! एक ही जो विश्व में सर्वस्व था तेरा सदा।
यों नष्ट उसको देखकर भी बन रहा तू भार है !
हे कष्टमय जीवन ! तुझे धिक्कार बारंबार है ॥

था जो तुम्हारे सब सुखों का सार इस संसार में,
वह गत हुआ है अब यहाँ से श्रेष्ठ स्वर्गागार में।
हे प्राण ! फिर अब किसलिए ठहरे हुए हो तुम अहो !
सुख छोड़ रहना चाहता है कौन जन दुःख में कहो ?

अपराध सौ सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे,
हँसकर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे।
हा ! आज उस मुझ किंकरी को कौन से अपराध में—
हे नाथ ! तजते हो यहाँ तुम शोक-सिन्धु अगाध में ?

तज दो भले ही तुम मुझे, मैं तज नहीं सकती तुम्हें,
वह थल कहाँ पर है जहाँ मैं भज नहीं सकती तुम्हें ?
है विदित मुझको वह्नि-पथ[1] त्रैलोक्य में तुम हो कहीं,
हम नारियों को पति-विना गति दूसरी होती नहीं ॥

१. अग्निमार्ग।

जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश ! तुमने ले लिया;
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य-पद मुझको मिला,
है दूर हरना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला ॥

क्या बोलने के योग्य भी अब मैं नहीं लेखी गई ?
ऐसी न पहले तो कभी प्रतिकूलता देखी गई !
वे प्रणय सम्बन्धी तुम्हारे प्रण अनेक नये नये,
हे प्राणवल्लभ, आज हा ! सहसा समस्त कहाँ गये ?

है याद ? उस दिन जो गिरा तुमने कही थी मधुमयी,
जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँदकर मैं रह गई !
'यह पाणि-पद्म-स्पर्श मुझसे छिप नहीं सकता कहीं',
फिर इस समय क्या नाथ मेरे हाथ वे ही हैं नहीं ।

एकान्त में हँसते हुए सुन्दर रदों[1] की पाँति से,
धर चिबुक[2] मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से ॥
वह छवि तुम्हारी उस समय की याद आते ही वहीं,
हे आर्य्यपुत्र ! विदीर्ण होता चित्त जाने क्यों नहीं ॥

परिणय-समय मण्डप-तले सम्बन्ध दृढ़ता-हित अहा !
ध्रुव देखने को वचन मुझसे नाथ ! तुमने था कहा ।
पर विपुल व्रीड़ा[3]-वश न उसका देखना मैं कह सकी,
संगति हमारी क्या इसी से ध्रुव न हा ! हा ! रह सकी ?

१. रद=दांत २. चिबुक=ठोड़ी ३. व्रीड़ा=लज्जा ।

बहु भाँति सुनकर सु-प्रशंसा और उसमें मन दिये,
सुरपुर गये हो नाथ! क्या तुम अप्सराओं के लिए?
पर जान पड़ती है मुझे यह बात मन में भ्रम-भरी,
मेरे समान न मानते थे तुम किसी को सुन्दरी॥

हाँ अप्सराएँ आप तुम पर मर रही होंगी वहाँ
समता तुम्हारे रूप की त्रैलोक्य में रक्खी कहाँ?
पर प्राप्ति भी उनकी वहाँ भाती नहीं होगी तुम्हें?
क्या याद हम सबकी वहाँ आती नहीं होगी तुम्हें?

'है यह भुवन ही इंद्र-कानन कर्मवीरों के लिए',
कहते सदा तुम तो यही थे—'धन्य हूँ मैं हे प्रिये!
यह देव दुर्लभ, प्रेममय मुझको मिला प्रियवर्ग है,
मेरे लिए संसार ही नंदन-विपिन है, स्वर्ग है'॥

जो भूरि-भाग भरी विदित थी निरुपमेय सुहागिनी,
हे हृदयवल्लभ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी!
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी,
है अब उसी मुझ-सी जगत में और कौन अनाथिनी?

हा! जब कभी अवलोक कुछ भी मौन धारे मान से,
प्रियतम! मनाते थे जिसे तुम विविध वाक्य-विधान से।
विह्वल उसी मुझको अहो! अब देखते तक हो नहीं!
यों सर्वदा ही भूल जाना है सुना न गया कहीं॥

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रन्थि-बन्धन साथ में,
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में;
मैं ँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी,
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी ॥

जो अंगरागांकित-रुचिर-सित-सेज पर थी सोहती,
शोभा अपार निहार जिसको मैं मुदित हो मोहती,
तव मूर्ति क्षत-विक्षत वही निश्चेष्ट अब भू पर पड़ी !
बैठी तथा मैं देखती हूँ, हाय री छाती कड़ी !

हे जीवितेश ! उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है,
है क्या तुम्हारे योग्य, यह तो भूमि-सेज कठोर है !
रख शीश मेरे अंक में जो लेटते थे प्रीति से,
यह लेटना अति भिन्न है उस लेटने की रीति से ॥

कितनी विनय मैं कर रही हूँ क्लेश से रोते हुए,
सुनते नहीं हो किन्तु तुम बेसुध पड़े सोते हुए !
अप्रिय न मन से भी कभी मैंने तुम्हारा है किया,
हृदयेश ! फिर इस भाँति क्यों निज हृदय निर्दय कर लिया ?

होकर रहूँ किसकी अहो ! अब कौन मेरा है यहाँ ?
कह दो तुम्हीं बस न्याय से अब ठौर है मुझको कहाँ ?
माता-पिता आदिक भले ही और निज जन हों सभी,
पति के बिना पत्नी सनाथा हो नहीं सकती कभी ॥

रोका वहुत था हाय ! मैंने 'जाइए मत युद्ध में',
 माना न तुमने किन्तु कुछ भी निज विपक्ष-विरुद्ध में।
हैं देखते यद्यपि जगत में दोष अर्थी जन नहीं,
 पर वीर जन निज नियम से विचलित नहीं होते कहीं॥

किसका करूँगी गर्व अव मैं भाग्य के विस्तार से ?
 किसको रिझाऊँगी अहो ! अव नित्य नव श्रृंगार से ?
ज्ञाता यहाँ अव कौन है मेरे हृदय के हाल का ?
 सिन्दूर-विन्दु कहाँ चला हा ! आज मेरे भाल का ?

हा ! नेत्र-युत भी अन्ध हूँ, वैभव सहित भी दीन हूँ,
 वाणी-विहित भी मूक हूँ, पद-युक्त भी गतिहीन हूँ।
हे नाथ घोर विडम्वना है आज मेरी चातुरी,
 जीती हुई भी तुम विना मैं हूँ मरी से भी वुरी॥

जो शरण अशरण के सदा अवलम्व जो गतिहीन के,
 जो सुख दुखीजन के, तथा जो वन्धु दुर्विध दीन के,
चिरशान्तिदायक देव हे यम ! आज तुम ही हो कहाँ ?
 लोगे न क्या हा हन्त ! तुम भी सुध स्वयं मेरी यहाँ ?"

कहती हुई वहु भाँति यों ही भारती[1] करुणामयी,
 फिर भी हुई मूर्च्छित अहो वह दुःखिनी विधवा नई।
कुछ देर को फिर शोक उसका सो गया मानो वहाँ,
 हतचेत होना भी विपद में लाभदायी है महा॥

१. वाणी।

उस समय ही कृष्णा, सुभद्रा आदि पाण्डव-नारियाँ,
मानो असुर-गण-पीड़िता सुरलोक की सुकुमारियाँ।
करती हुईं बहु भाँति क्रन्दन आ गईं सहसा वहाँ,
प्रत्यक्ष ही लक्षित हुआ तब दुःख दुस्सह-सा वहाँ ॥

विचलित न देखा था कभी जिनको किसी ने लोक में,
वे नृप युधिष्ठिर भी स्वयं रोने लगे इस शोक में !
गाते हुए अभिमन्यु के गुण भाइयों के संग में,
होने लगे वे मग्न-से आपत्ति-सिन्धु-तरंग में ॥

"इस अति विनश्वर-विश्व में दुःख-शोक कहते हैं किसे ?
दुःख भोगकर भी वहुत हमने आज जाना है इसे।
निश्चय हमें जीवन हमारा आज भारी हो गया,
संसार का सव सुख हमारा आज सहसा खो गया ॥

हा ! क्या करें ? कैसे रहें ? अव तो रहा जाता नहीं,
हा ! क्या कहें ? किससे कहें ? कुछ भी कहा जाता नहीं।
क्योंकर सहें इस शोक को ? यह तो सहा जाता नहीं;
हे देव इस दुःख-सिन्ध में अव तो वहा जाता नहीं ॥

जिस राज्य के हित शत्रुओं से युद्ध है यह हो रहा,
उस राज्य को अव इस भुवन में कौन भोगेगा अहा ?
हे वत्सवर अभिमन्यु ! वह तो था तुम्हारे ही लिए,
पर हाय ! उसकी प्राप्ति के ही समय में तुम चल दिए !

जितना हमारे चित्त को आनन्द था तुमने दिया,
हा ! अधिक उससे भी उसे अब शोक से व्याकुल किया।
हे वत्स, बोलो तो जरा, सम्बन्ध तोड़ कहाँ चले ?
इस शोचनीय प्रसंग में तुम संग छोड़ कहाँ चले ?

सुकुमार तुमको जानकर भी युद्ध में जाने दिया,
फल योग्य ही हे पुत्र ! उसका शीघ्र हमने पा लिया।
परिणाम को सोचे बिना जो लोग करते काम हैं;
वे दुःख में पड़कर कभी पाते नहीं विश्राम हैं ॥

तुमको बिना देखे अहो ! अब धैर्य हम कैसे धरें ?
कुछ जान पड़ता है नहीं हे वत्स ! अब हम क्या करें ?
है विरह यह दुस्सह तुम्हारा हम इसे कैसे सहें ?
अर्जुन, सुभद्रा, द्रौपदी से हाय ! अब हम क्या कहें ?"

है ध्यान भी जिनका भयंकर, जो न जा सकते कहे,
यद्यपि दृढ़-व्रत पाण्डवों ने थे अनेकों दुःख सहे।
पर हो गये वे हीन-से इस दुःख के सम्मुख सभी;
अनुभव बिना जानी न जाती बात कोई भी कभी ॥

यों जान व्याकुल पाण्डवों को व्यास मुनि आये वहाँ—
कहने लगे इस भाँति उनसे वचन मनभाये वहाँ—
"हे धर्मराज ! अधीर मत हो, योग्य यह तुमको नहीं,
करते भला क्या विधि-नियम पर मोह ज्ञानीजन कहीं ?"

यों बादरायण के वचन सुन, देखकर उनको तथा,
कहने लगे उनसे युधिष्ठिर और भी पाकर व्यथा—
"धीरज धरूँ हे तात कैसे? जल रहा मेरा हिया,
क्या हो गया यह हाय! सहसा दैव ने यह क्या किया?

जो सर्वदा ही शून्य लगती आज हम सबको धरा,
जो नाथ-हीन अनाथ जग में हो गई है उत्तरा।
हूँ हेतु इसका मुख्य मैं ही, हा! मुझे धिक्कार है,
मत धर्मराज कहो मुझे, यह क्रूर-जन भू-भार है॥

हे पुत्र दुर्लभ सर्वथा अभिमन्यु-सा संसार में,
थे सर्व गुण उस धर्मधारी धीर-वीर कुमार में।
वह बाल होकर भी मृदुल, अति प्रौढ़ था निज काम में,
बातें अलौकिक थीं सभी उस दिव्य शोभा-धाम में॥

क्या रूप में, क्या शक्ति में, क्या बुद्धि में, क्या ज्ञान में,
गुणवान वैसा अन्य जन आता नहीं है ध्यान में।
पर हाय! केवल रह गई है अब यहाँ उसकी कथा,
धिक्कार है संसार की निस्सारता को सर्वथा॥

प्रति दिवस जा इस समय आकर मोदयुत संग्राम से,
करता हृदय मेरा मुदित था भक्ति-युक्त प्रणाम से।
हा! आज वह अभिमन्यु मेरा मृतक भू पर है पड़ा,
होगा कहो मेरे लिए क्या कष्ट अब इससे बड़ा?

करने पड़ेंगे यदपि अब भी काम सब जग में हमें,
चलना पड़ेगा यदपि अब भी विश्व के मग में हमें।
सच जानिये पर अब न होगा हृदय लीन उमंग में,
सुख की सभी बातें गईं सौभद्र के ही संग में ॥

उसके विना अब तो हमें कुछ भी सुहाता है नहीं,
हा ! क्या करें हत हृदय दुःख से शान्ति पाता है नहीं।
था लोक आलोकित उसीसे, अब अँधेरा है हमें,
किस दोष से दुर्दैव ने इस भाँति घेरा है हमें ॥

अब भी मनोरम मूर्ति उसकी फिर रही है सामने,
पर साथ ही दुःख की घटा भी घिर रही है सामने।
हम देखते हैं प्रकट उसको किन्तु पाते हैं नहीं,
हा ! स्वप्न के वैभव किसीके काम आते हैं नहीं ॥

कैसी हुई होगी अहो ! उसकी दशा उस काल में—
जब वह फँसा होगा अकेला शत्रुओं के जाल में ?
बस वचन ये उसने कहे थे अन्त में दुःख से भरे—
'निरुपाय तब अभिमन्यु यह अन्याय से मरता हरे !'—"

कहकर वचन कौन्तेय यों फिर मौन दुःख से हो गए,
दृग-नीर से तत्काल युग्म कपोल उनके धो गए।
तब व्यास मुनि ने फिर उन्हें धीरज बँधाया युक्ति से,
आख्यान समयोचित सुनाये विविध उत्तम उक्ति से ॥

उस समय ही संसप्तकों को युद्ध में संहार के,
लौटे धनञ्जय[1] विजय का आनन्द उर में धार के।
होने लगे पर मार्ग में अपशकुन बहु विध जब उन्हें,
खलने लगी अति चित्त में चिन्ता कुशल की तब उन्हें ॥

कुविचार बारंबार उनके चित्त में आने लगे,
आनन्द और प्रसन्नता के भाव सब जाने लगे;
तब व्यग्र होकर वचन वे कहने लगे भगवान से,
होगी न आतुरता किसे आपत्ति के अनुमान से ?

"हे मित्र ! मेरा मन न जाने हो रहा क्यों व्यस्त है।
इस समय पल पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज-समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो,
भगवान ! मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएँ दलो।"

बहु भाँति तब सर्वज्ञ हरि ने शीघ्र समझाया उन्हें,
सुनकर मधुर उनके वचन सन्तोष कुछ आया उन्हें।
पर, स्वजन-चिन्ता-रज्जु-बन्धन है कदापि न टूटता,
जो भाव जम जाता हृदय में वह न सहसा छूटता ॥

करते हुए निज चित्त में नाना विचार नये-नये,
निज भाइयों के पास आतुर आर्त्त अर्जुन आ गये।
तप तप्त तरुओं के सदृश तब देख कर तापित उन्हें,
व्याकुल हुए वे और भी कर कुशल विज्ञापित उन्हें ॥

१. अर्जुन।

अवलोकते ही हरि-सहित अपने समक्ष उन्हें खड़े;
फिर धर्मराज विषाद से विचलित उसी क्षण हो पड़े।
वे यत्न से रोके हुए शोकाश्रु फिर गिरने लगे,
फिर दुःख के वे दृश्य उनकी दृष्टि में फिरने लगे॥

कहते हुए कारुण्य-वाणी दीन हो उस काल में,
देखे गये इस भाँति वे जलते हुए दुःख-ज्वाल में।
व्याकुल हुए खग-वृन्द के चीत्कार से पूरित सभी—
दावाग्नि-कवलित वृक्ष ज्यों देता दिखाई है कभी॥

"हे हे जनार्दन! आपने यह क्या दिखाया है हमें?
हे देव! किस दुर्भाग्य से यह दुःख आया है हमें?
हा! आपके रहते हुए भी आज यह क्या हो गया?
अभिमन्यु रूपी रत्न जो सहसा हमारा खो गया।

निज राज्य लेने से हमें हे तात! अब क्या काम है?
होता अहो! फिर व्यर्थ ही क्यों यह महा संग्राम है!
क्या यह हमारी हानि भारी, राज्य से मिट जायगी?
त्रैलोक्य की भी सम्पदा उस रत्न को क्या पायगी?

मेरे लिए ही भेद करके व्यूह द्रोणाचार्य्य का,
मारे सहस्रों शूर उसने ध्यान धर प्रिय कार्य्य का।
पर अन्त में अन्याय से निरुपाय होकर के वहाँ—
हा! हन्त! वह हत हो गया, पाऊँ उसे अब मैं कहाँ?

उद्योग हम सबने बहुत उसके बचाने का किया,
पर खल जयद्रथ ने हमें भीतर नहीं जाने दिया।
रहते हुए भी सो हमारे युद्ध में वह हत हुआ,
अब क्या रहा सर्वस्व ही हा ! हा ! हमारा गत हुआ ॥

पापी जयद्रथ पार उससे जब न रण में पा सका,
उस वीर के जीते हुए सम्मुख न जब वह जा सका,
तब मृतक उसको देख सिर पर पैर रक्खा नीच ने,
हा ! हा ! न यों मनुजत्व को भी स्मरण रक्खा नीच ने ॥"

श्रीकृष्ण से जब ज्येष्ठ पाण्डव थे वचन यों कह रहे,
अर्जुन हृदय पर हाथ रक्खे थे महा दुःख सह रहे,
'हा पुत्र !' कहकर शीघ्र ही फिर वे मही पर गिर पड़े,
क्या वज्र गिरने पर बड़े भी वृक्ष रह सकते खड़े ?

जो शस्त्र शत-शत शत्रुओं के सहन करते थे कड़े,
वे पार्थ ही इस शोक के आघात से जब गिर पड़े;
तब और साधारण जनों के दुःख की है क्या कथा,
होती अतीव अपार है सुत-शोक की दुःसह व्यथा ॥

यों देख भक्तों को प्रपीड़ित शोक के अति भार से,
कुछ द्रवित अच्युत भी हुए कारुण्य के संचार से।
तल-मध्य-अनल-स्फोट से भूकम्प होता है जहाँ,
होते विकम्पित-से नहीं क्या अचल भूधर भी वहाँ ?

तृतीय सर्ग

श्रीवत्सलाञ्छन विष्णु तव कहकर वचन प्रज्ञा[1]-पगे,
धीरज वँधाकर पाण्डवों को शीघ्र समझाने लगे।
हरने लगे सब शोक उनका ज्ञान के आलोक में,
कुछ शान्ति देती है वड़ों की सान्त्वना ही शोक में ॥

"हे हे परन्तप ! ताप सहकर चित्त में धीरज धरो,
हे धीर भारत ! हो न आरत ! शोक को कुछ कम करो।
पड़ता समय है वीर पर ही, भीरु-कायर पर नहीं,
दृढ़-भाव अपना विपद में भी भूलते वुधवर नहीं ॥

निज जन-विरह के शोक का दुःख-दाह कौन न जानता ?
पर मृत्यु का होना न जग में कौन निश्चित मानता ?
सहनी नहीं पड़ती किसे प्रिय-विरह की दुस्सह व्यथा ?
क्या फिर हमें कहनी पड़ेगी आज गीता की कथा ?

आते वुरे दिन वीतने पर मनुज के जग में जहाँ,
जाते हुए कोई न कोई दुःख दे जाते वहाँ।
अतएव अव निश्चय तुम्हारे उदय का आरम्भ है,
होगा अधिक अव दुःख क्या ? यह सब दुःखों का खम्भ है ॥

जिस ज्ञान के वल से अनेकों विपद्-नद तरते रहे,
जिस ज्ञान के वल से सदा ही धैर्य तुम धरते रहे,
हे वुद्धिमानों के शिरोमणि ! ज्ञान अव वह है कहाँ ?
अवलम्व उसका ही तुम्हें लेना उचित है फिर यहाँ ॥

१. वुद्धि ।

निश्चय विरह अभिमन्यु का है दुःखदायी सर्वथा,
पर सहन करनी चाहिए फिर भी किसी विध यह व्यथा।
रण में मरण क्षत्रिय जनों को स्वर्ग देता है सदा,
है कौन ऐसा विश्व में जीता रहे जो सर्वदा ?

हे वीर, देखो तो, तुम्हें यों देखकर रोते हुए,
हैं हँस रहे सब शत्रुजन मन में मुदित होते हुए।
क्या इस महा अपमान का कुछ भी न तुमको ध्यान है ?
क्या ज्ञानियों को भी विपद में त्याग देता ज्ञान है ?

तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है ?
कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म है ?
हे अनघ ! क्या यह विज्ञता भी आज तुमने दूर की ?
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की ॥

जिस बात से निज वैरियों को स्वल्प-सा भी हर्ष हो,
है योग्य उसका त्याग ही, बाधा न क्यों दुर्द्धर्ष हो।
वह वीर ही क्या, शत्रु का सुख-हेतु हो जो आप ही,
निज शत्रुओं का तो बढ़ाना चाहिए सन्ताप ही ॥

जिन पामरों ने सर्वदा ही दुःख तुमको है दिया,
षड्यन्त्र रच-रचकर अनेकों विभव सारा हर लिया।
उन पापियों को देखते हैं योग्य क्या रोना तुम्हें ?
निज शत्रु-सम्मुख तो उचित है मुदित ही होना तुम्हें ॥

निज सहचरों का शोक तो आजन्म रहता है बना,
पर चाहिए सबको सदा कर्त्तव्य अपना पालना।
हे विज्ञ! सो सब सोचकर यों शोक में न रहो पड़े,
लो शीघ्र बदला वैरियों से, धैर्य धरकर हो खड़े॥

मारा जिन्होंने युद्ध में अभिमन्यु को अन्याय से,
सर्वस्व मानो है हमारा हर लिया दुरुपाय से।
हे वीरवर! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं?
इस वैर का बदला कहो, क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं?"

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े,"
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े॥

उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा;
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।
मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ?

युग-नेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार से,
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार-से।
निश्चय अरुणिमा-मिस अनल की जल उठी वह ज्वाल ही,
तब तो दृगों का जल गया शोकाश्रु जल तत्काल ही॥

तब निकलकर नासा-पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों,
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों—
जिस भाँति हरने पर किसी के, प्राण से भी प्रिय मणी,
करके स्फुरित फिर फिर फणा फुंकार भरता है फणी[1] ॥

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए,
तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए—
दो पद्म शुंडों में लिए दो शुंडवाला गज कहीं,
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा वहीं !

दुर्द्धर्ष, जलते-से हुए उत्ताप के उत्कर्ष से,
कहने लगे तब वे अरिन्दम, वचन व्यक्त अमर्ष से ।
प्रत्येक पल में चंचला की दीप्ति दमकाकर घनी,
गम्भीर सागर सम यथा करते जलद धीरध्वनी ॥

"साक्षी रहे संसार, करता हूँ प्रतिज्ञा पार्थ मैं,
पूरा करूँगा कार्य सब कथनानुसार यथार्थ मैं ।
जो एक बालक को कपट से मार हँसते हैं अभी,
वे शत्रु सत्वर शोक-सागर-मग्न दीखेंगे सभी ॥

अभिमन्यु-धन के निधन में कारण हुआ जो मूल है,
इससे हमारे हत-हृदय को हो रहा जो शूल है—
उस खल जयद्रथ को जगत में मृत्यु ही अब सार है,
उन्मुक्त बस उसके लिए रौरव नरक का द्वार है ॥

१. सर्प ।

तज धार्तराष्ट्रों को सवेरे दीन होकर जो कहीं,
श्रीकृष्ण और अजातरिपु के शरण वह होगा नहीं;
तो काल भी चाहे स्वयं हो जाय उसके पक्ष में,
तो भी उसे मैं वध करूँगा प्राप्त कर शर-लक्ष में ॥

सुर, नर, असुर, गन्धर्व, किन्नर आदि कोई भी कहीं,
कल शाम तक मुझसे जयद्रथ को बचा सकते नहीं।
चाहे चराचर विश्व भी उसके कुशल-हित हो खड़ा,
भू-लुंठित कलरव[1]-तुल्य उसका शीश लोटेगा पड़ा ॥

उपयुक्त उस खल को न यद्यपि मृत्यु का भी दण्ड है,
पर मृत्यु से बढ़कर न जग में दण्ड और प्रचण्ड है।
अतएव कल उस नीच को रण-मध्य जो मारूँ न मैं,
तो सत्य कहता हूँ कभी शस्त्रास्त्र फिर धारूँ न मैं ॥

हे देव अच्युत, आपके सम्मुख प्रतिज्ञा है यही,
मैं कल जयद्रथ-वध करूँगा, वचन कहता हूँ सही।
यदि मारकर कल मैं उसे यमलोक पहुँचाऊँ नहीं,
तो पुण्य-गति को मैं कभी परलोक में पाऊँ नहीं ॥

पापी जयद्रथ! हो चुका तेरा वयोविस्तार है,
मेरे करों से अब नहीं तेरा कहीं निस्तार है।
दुर्वृत्त! तेरा त्राण कोई कर नहीं सकता कहीं,
वीर-प्रतिज्ञा विश्व में होती असत्य कभी नहीं ॥

१. लोटन कबूतर।

विषधर बनेगा रोष मेरा खल ! तुझे पाताल में,
दावाग्नि होगा विपिन में, वाड़व जलधि-जल-जाल में।
जो व्योम में तू जायगा तो वज्र वह बन जायगा,
चाहे जहाँ जाकर रहे जीवित न तू रह पायगा ॥

छोटे बड़े जितने जगत में पुण्य-नाशक पाप हैं,
लौकिक तथा जो पारलौकिक तीक्ष्णतर सन्ताप हैं।
हों प्राप्त वे सब सर्वदा को तो विलम्ब विना मुझे,
कल युद्ध में सन्ध्या समय तक, जो न मैं मारूँ तुझे ॥

अथवा अधिक कहना वृथा है, पार्थ का प्रण है यही,
साक्षी रहें सुन ये वचन रवि, शशि, अनल, अम्बर, मही।
सूर्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ-वध करूँ,
तो शपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ ॥"

करके प्रतिज्ञा यों किरीटी क्रोध के उद्गार से,
करने लगे घोषित दिशाएँ धनुष की टंकार से।
उस समय उनकी दीप्ति ने वह दृश्य याद करा दिया,
जब शार्ङ्गपाणि उपेन्द्र ने था रोष असुरों पर किया ॥

सुन पार्थ का प्रण रौद्र रस में वीर सब बहने लगे;
कह 'साधु-साधु' प्रसन्न हो श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—
"यह भारती हे वीर भारत ! योग्य ही तुमने कही,
जिन वैरियों के विषय में कर्त्तव्य है समुचित यही।"

इसके अनन्तर मुदित माधव कम्बु-रव[1] करने लगे,
प्रण के विषय में पाण्डवों का सोच-सा हरने लगे।
प्रिय पाञ्चजन्य करस्थ हो मुख-लग्न यों शोभित हुआ,
कल-हंस मानो कंज-वन में आ गया लोभित हुआ॥

फिर भीम-अर्जुन आदि भी निज शङ्ख-रव करने लगे,
पीछे उन्हीं के सैन्य में रण-वाद्य मन हरने लगे।
तब गूँजकर वह घोर रव सब ओर यों भरने लगा,
मानो चराचर विश्व को ही नादमय करने लगा॥

करके श्रवण उस नाद को कौरव बहुत शंकित हुए,
नाना नवीन विचार उनके चित्त में अंकित हुए।
पार्थ-प्रतिज्ञा भी उन्होंने दूत के द्वारा सुनी,
ज्यों दैत्य-गण ने जिष्णुजय[2] जीमूत[3] के द्वारा सुनी।

ग्रीष्मान्त में घन-नाद सुनकर भीत होता हंस ज्यों,
व्याकुल हुआ यह बात सुनकर सिन्धुराज नृशंस त्यों।
प्रत्यक्ष-सा निज रूप उसको मृत्यु दिखलाने लगी,
दावाग्नि-सी बढ़ती हुई वह निकटतर आने लगी॥

कर्त्तव्य-मूढ़ समान वह चिन्ताग्नि में जलने लगा,
निज कृत्य बारंबार उसको चित्त में खलने लगा।
देखा न और पदार्थ कोई प्रण से प्यारा कहीं,
है वस्तु अप्रिय अन्य जग में मृत्यु से बढ़कर नहीं॥

१. कम्बु-रव=शंख का शब्द २. जिष्णु=इन्द्र ३. जीमूत=मेघ।

संसार में आशा उसे कुछ भी न जीवन की रही,
बस दीखने उसको लगी निज मृत्युमय सारी मही।
तब वह सुयोधन के निकट आया फँसा भय-जाल में,
गति है न अन्य सुहृज्जनों से भिन्न आपत्काल में।।

कारण समझकर भी उसे व्याकुल विलोका जब वहाँ,
पूछा सुयोधन ने स्वयं भय-हेतु उससे तब वहाँ।
हो कर चकित-सा थकित-सा सर्वस्व से जाकर ठगा,
भय से विकृत अप्रकृत स्वर से वचन वह कहने लगा—

"जो प्रण किया है पार्थ ने सुत-शोक के सन्ताप से,
हे कुरुकुलोत्तम! क्या अभी तक वह छिपा है आपसे?
'मारूँ जयद्रथ को न कल मैं तो अनल में जल मरूँ',
की है यही उसने प्रतिज्ञा, अब कहो मैं क्या करूँ?

कर्त्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है,
भय और चिन्ता-युक्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए।।

मैं सत्य कहता हूँ, नहीं है मृत्यु की शंका मुझे,
सब दीप्त जीवन-दीप बुझते हैं, बुझेंगे, हैं बुझे।
है किन्तु मुझको चित्त में चिन्ता प्रबल केवल यही,
अब देख पाऊँगा तुम्हारी मैं न निष्कण्टक मही।।"

इस भाँति उसके सुन व्रचन कुरुराज वोला प्रेम से—
"हे वीर ! तुम निर्भय तथा निःशंक सोओ क्षेम से।
जव तक हमारे पक्ष का जन एक भी जीवन धरे,
है कौन ऐसा जो तुम्हारा वाल भी वाँका करे ?

यह प्रण हमारे भाग्य से ही धनञ्जय ने किया,
होगी सहज ही में हमारी अव सफल सारी क्रिया।
क्रर्णादि के रहते हुए क्या वह सफलता पायगा ?
कल शाम को जलकर अनल में वह स्वयं मर जायगा ॥

अर्जुन विना जीवित रहेंगे धर्मराज नहीं कभी,
सो यों स्वयं ही रिपु हमारे नष्ट अव होंगे सभी।
कृप, कर्ण, द्रोणाचार्य जिसके त्राण के हित हों खड़े,
वस जान लो सव शत्रु उसके मृत्यु के मुख में पड़े ॥

अन्यत्र जाने की अपेक्षा योग्य है रहना यहीं,
रक्षा तुम्हारी विश्व में अन्यत्र सम्भव है नहीं।
क्या द्रोण, कर्ण, कृपादि से वलवान है कोई कहीं ?
रक्षक जहाँ आत्मीय जन हों योग्य है रहना वहीं ॥"

कहकर वचन कुरुराज ने यों जव उसे धीरज दिया,
हो स्वस्थ तव उसने नृपति का वहुत अभिनन्दन किया।
कर्णादि ने भी दूर की वहु भाँति उसकी यन्त्रणा,
करने लगे फिर अन्त में सव युद्ध-विषयक मन्त्रणा।

इस ओर देकर पाण्डवों को शान्तिदायी सान्त्वना,
सौभद्र-शव-संस्कार की श्रीकृष्ण ने की योजना।
कृष्णादि से वेष्टित उसे भगवान ने देखा यथा,
सुरभी लताओं के निकट सूखा प्रसून पड़ा यथा ॥

कृष्णा, सुभद्रा आदि को अवलोककर रोते हुए,
हरि के हृदय में भी वहाँ कुछ-कुछ करुण रस-कण चुए।
आते हुए अवलोक उनको देह भान विसार के,
बोली सुभद्रा—मृतकवत्सा गो-समान—पुकार के ॥

"भैया, कहो मेरे दृगों का आज तारा है कहाँ?
मुझ दुःखिनी हतभागिनी का सौख्य सारा है कहाँ?
सम्पूर्ण-गुण-सम्पन्न वह अनुचर तुम्हारा है कहाँ?
हा! पाण्डुवंश-प्रदीप अब अभिमन्यु प्यारा है कहाँ?

भैया, तुम्हें क्या विश्व में मझको दिखाना था यही?
हा! जल गया यह हत हृदय, दृग-ज्योति सब जाती रही!
तब काल गति के मार्ग में अभिमन्यु ही था क्या अहो?
करुणानिधे, करुणा तुम्हारी हाय यह! कैसी कहो?"

रोने लगी यों कह सभद्रा, दुःख वेग न सह सकी,
पर रुद्धकण्ठा द्रौपदी कुछ भी न उनसे कह सकी।
बस अश्रु-पूर्ण विलोचनों से देखकर हरि को वहाँ,
निर्जीव-सी वह रह गई बैठी जहाँ की ही तहाँ ॥

मानो गिरा भी कह सकी पीड़ा न उसकी हार के,
वह दुःखिनी चुप रह गई हरि को समक्ष निहार के।
पर अश्रुजल-अवरुद्ध उसकी दृष्टि ने मानो कहा—
'अब और क्या इस दुःखिनी को देखना बाकी रहा !'

यों जानकर सबको दुखी, लख उत्तरा-उत्ताप को,
भूले रहे भगवान भी कुछ देर अपने आपको !
फिर रोक करुणा-वेग सबको शीघ्र समझाने लगे,
उस शोक-सागर से उन्हें तट ओर ले जाने लगे ॥

"धीरज धरो कृष्णे, अहो ! भद्रे सुभद्रे ! शान्त हो,
है गति यही तनुधारियों की शोक से मत भ्रान्त हो।
यह कौन कह सकता कि अब अभिमन्यु जीवित है नहीं ?
जग में सदा को कीर्ति करना, है भला मरना कहीं ?

जब तक प्रकाश समर्थ होगा अन्धकार-विनाश में,
जब तक उदित होते रहेंगे सूर्य्य-शशि आकाश में,
अभिमन्यु का विश्रुत रहेगा नाम तब तक सब कहीं,
नश्वर जगत में जन्म लेकर वीर मरते ही नहीं।

आजन्म तप करके कठिन मुनि भी न जा सकते जहाँ,
संसार के बन्धन कभी कोई न आ सकते जहाँ।
अक्षय्य सब सुख हैं जहाँ—दुःख एक भी होता नहीं;
सच मानकर मेरे वचन अभिमन्यु को जानो वहीं ॥

वह वीर नश्वर देह तजकर आप तो है ही जिया,
पर सत्य समझो, है तुम्हें भी अमर उसने कर दिया।
ऐसे समर्थ सपूत का तुम शोक करती हो अहो!
उसकी सहज की मृत्यु में गौरव कहाँ था यह कहो?"

कहकर वचन भगवान ने यों ज्ञान जब उनको दिया,
कुछ शान्त जब हरि-सान्त्वना से हो गया उनका हिया।
तब युग दृगों से दुःखमय अविरल सलिल-धारा बहा;
पाकर तनिक अवलम्ब-सा यों याज्ञसेनी ने कहा—

"धिक्कार है हे तात! ऐसी अमरता परलोक में,
जीना किसे स्वीकार है आजन्म रहकर शोक में?
पूरे हुए हैं क्या हमारे पूर्व-पाप नहीं अभी?
हा! वह हमारा पुत्र प्यारा फिर मिलेगा क्या कभी?

अभिमन्यु को मृत देखकर भी हाय! मैं जीती रही,
हा! क्यों न मुझ हतभागिनी के अर्थ फट जाती मही!
दुःख भोगने के लिए क्या जन्म है मेरा हुआ?
हा! कब रहा जीवन न मेरा शोक से घेरा हुआ?

मेरे हृदय के हर्ष हा! अभिमन्यु, अब तू है कहाँ?
दृग खोलकर बेटा, तनिक तो देख हम सबको यहाँ।
मामा खड़े हैं पास तेरे, तू मही पर है पड़ा!
निज गुरुजनों के मान का तो ध्यान था तुझको बड़ा॥

व्याकुल तनिक भी देखकर तू धैर्य देता था मुझे,
पर आज मेरे पुत्र प्यारे, हो गया है क्या तुझे?
धात्री[1] सुभद्रा को समझकर माँ मुझे था मानता,
पर आज तू ऐसा हुआ मानो न था पहचानता ॥

हा! पाँच ग्रामों की बुरी वह सन्धि जब होने लगी,
सुनकर तथा उस बात को जब मैं बहुत रोने लगी,
क्या याद है? था पाण्डवों के सामने तूने कहा—
'स्वीकृत नहीं यह सन्धि मुझको, मा! न तू आँसू बहा ॥'

रहते हुए भी शस्त्रधारी पाण्डवों के साथ में,
हा! तू अकेला हत हुआ, पड़ पापियों के हाथ में।
कोई न कुछ भी कर सका ऐसा अनर्थ हुआ किया,
धिक् पाण्डवों की शूरता, धिक् शस्त्र धारण की क्रिया ॥"

कहती हुई यों द्रौपदी का कण्ठ गद्गद हो गया,
विष-वेग के सम शोक से चैतन्य उसका खो गया।
हरि ने सजग कर तब उसे व्यजनादि के उपचार से,
दी सान्त्वना समयोपयोगी ज्ञान के विस्तार से—

"अभिमन्यु के दर्शन बिना तुमको न रोना चाहिए,
उसकी परम पद-प्राप्ति सुनकर शान्त होना चाहिए!
ले जन्म क्षणभंगुर-जगत में कौन मरता है नहीं?
पर है उचित मरना जहाँ पर वीर मरते हैं वहीं ॥

१. धाय।

अभिमन्यु के घातक सभी अति शीघ्र मारे जायँगे,
तुम स्वस्थ हो, इस पाप का वे दण्ड पूरा पायँगे।
करते अभी तक पार्थ थे जो युद्ध करुणाधीन हो,
वन जायँगे अब रुद्र रण में, रोप में अति लीन हो ॥

होगा जयद्रथ कल निहित, प्रण कर चुके अर्जुन अभी,
धीरज धरो अतएव मन में शान्त होकर तुम सभी ।
दो धैर्य मेरी ओर से, सब उत्तरा के चित्त को,
सुत-रूप में वह पायगी खोये हुए निज वित्त[1] को ॥"

श्रीकृष्ण ने इस भाँति सबको लीन करके ज्ञान में,
प्रस्तुत कराई शीघ्र ही चन्दन-चिता सुस्थान में।
अभिमन्यु का मत देह उस पर शान्ति से रक्खा गया,
ज्यों क्रूरता की गोद में कारुण्य का भाजन नया ॥

होकर ज्वलित तत्क्षण चिता की ज्वाल ने नभ को छुआ,
पर उस वियोग-विपत्ति विधुरा उत्तरा का क्या हुआ ?
उस दग्धहृदया को मरण भी हो गया दुर्लभ बड़ा,
वह गर्भिणी थी, इसलिए निज तनु उसे रखना पड़ा ॥

अभिमन्यु का तनु जल गया तत्काल ज्वाला-जाल से,
पर कीर्ति नष्ट न हो सकी उस वीरवर की काल से ।
अच्छा-बुरा बस नाम ही रहता सदा इस लोक में,
वह धन्य है जिसके लिए हों लीन सज्जन शोक में ॥

१. धन ।

चतुर्थ सर्ग

इसके अनन्तर कृष्ण ने सबको बहुत धीरज दिया,
फिर आर्त्त अर्जुन को वहाँ इस भाँति उत्तेजित किया—
"अत्यन्त रोषावेग में तुमने किया है प्रण कड़ा,
अब यत्न क्या इसका सखे ? यह कार्य्य है दुष्कर बड़ा ॥"

यों सुन वचन गोविन्द के निर्भय धनंजय ने कहा—
(वीरत्व-करुणा-शान्ति का त्रिस्रोत गंगाजल बहा ।)
"निश्चय मरेगा कल जयद्रथ प्राप्त होगी जय मुझे,
हे देव ! मेरे यत्न तुम हो मत दिखाओ भय मुझे ॥"

कहते हुए यों पार्थ के दो बूंद आँसू गिर पड़े,
मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोती बड़े ।
फिर मौन होकर निज शिविर में वे तुरन्त चले गए,
छलने चले थे भक्त को, भगवान आप छले गए ॥

हर शोक पाण्डव पक्ष का, निज शिविर में हरि भी गए,
फिर शीघ्र ही भगवान ने प्रकटित किए कौतुक नये ।
कर योगमाया को सजग निद्रित जगत की व्याप्ति को,
झट ले चले वे पार्थ को शिव निकट अस्त्र-प्राप्ति को ॥

लख प्राकृतिक छवि मार्ग में गिरि-वन-नदी-नभ की नई,
विस्मित हुए अत्यन्त अर्जुन आत्म-विस्मृति हो गई ।
उस काल उनका शोक भी चिन्ता सहित जाता रहा,
हो प्रेम से पुलकित उन्होंने यों रमापति से कहा—

"महिमा तुम्हारी दीखती सब ओर ही अद्भुत हरे !
कौशल तुम्हारे हैं सभी अत्यन्त अनुपमता भरे।
करती प्रकाशित नित्य नूतन छवि तुम्हारी सृष्टि है,
पड़ती जहाँ अड़ती वहीं, हटती नहीं फिर दृष्टि है॥

आकाश में चलते हुए यों छवि दिखाई दे रही,
मानो जगत को गोद लेकर मोद देती है मही।
उन्नत हिमाचल से धवल यह सरसुरी यों टूटती,
मानो पयोधर से धरा के दुग्ध-धारा छूटती॥

निद्रित दशा में सृष्टि सारी पा रही विश्राम है,
निस्तब्ध-निश्चल प्रकृति की शोभा परम अभिराम है।
भूषण सदृश उडुगण हुए, मुख-चन्द्र-शोभा छा रही,
विमलाम्बरा[1] रजनी-वधू अभिसारिका-सी जा रही॥

खग वृन्द सोता है अतः कलकल नहीं होता जहाँ,
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है खोता जहाँ।
इस भाँति धीरे से परस्पर कह सजगता की कथा,
यों दीखते हैं वृक्ष ये हों विश्व के प्रहरी यथा॥

कर पार गिरि-वन-नद यदपि कैलास को हम जा रहे,
पर दृश्य आगे के स्वयं मानो निकट सब आ रहे।
गोविन्द ! पीछे तो अहो ! देखो तनिक दृग फेर के,
तम कर रहा है लीन-सा क्रम से जगत को घेर के॥

१. निर्मल आकाशवाली ओर और निर्मल वस्त्रवाली।

मधु-गन्ध मणि-मय-मन्दिरों से फैलती सुन्दर जहाँ,
यह दीखती अलकापुरी, उपमा अहो ! इसकी कहाँ ?
गाते प्रियाओं के सहित रस-राग यक्ष जहाँ-तहाँ,
प्रत्यक्ष-सी उत्तर दिशा की दीखती लक्ष्मी यहाँ ॥"

कहते हुए यों पार्थ पर सहसा उदासी छा गई,
'उत्तर' दिशा से 'उत्तरा' की याद उनको आ गई।
हा ! निज जनों का शोक सबको स्वप्न में भी सालता,
मृत-बन्धुओं का ध्यान ही मन को विकल कर डालता ॥

बोले वचन भगवान तब उनसे प्रचुर-प्रियता-पगे—
—"हे वीर भारत ! व्यर्थ को फिर व्यग्र तुम होने लगे।
अब तक तुम्हारा शोक क्या यह पूर्ववत् अनिवार्य्य है ?
दुर्बल बनाकर मोह मन को नष्ट करता कार्य्य है ॥"

श्रीकृष्ण के सुन वचन कुछ उत्तर न अर्जुन ने दिया,
अतएव उनके स्कन्ध पर हरि ने करारोपण किया।
तब पड़ गये अवसन्न वे वैचित्र्य की-सी वृष्टि में,
था वह नितान्त नवीन जो कुछ दृश्य आया दृष्टि में ॥

देखा उन्होंने तब कि मानो वे बहुत ऊपर गए,
रवि-चन्द्र लोकों के मिले बहु दिव्य दृश्य नये-नये।
चलते हुए यों अन्त में वैकुण्ठ दीख पड़ा उन्हें,
अवलोक उसकी छवि हुआ आश्चर्य-हर्ष बड़ा उन्हें ॥

उज्ज्वल मनोरम थी वहाँ की भूमि सारी स्वर्ण की,
थीं जड़ रही जिसमें विपुल मणियाँ अनेकों वर्ण की।
प्रत्येक पथ के पार्श्व में फूले हुए बहु फूल थे,
उड़ते हुए जिसके रज:कण दिव्य शोभा मूल थे॥

जिनके सुधामय विमल-जल कोमल-सुगन्धि-सने हुए,
कुण्डादि शलिलाशय रुचिर थे ठौर ठौर बने हुए।
जोड़े मिलिन्दों के मुदित जिनसे मनोज्ञ मिले हुए,
नलिनी-नलिन आदिक जलज थे एक साथ खिले हुए॥

जिन पर कहीं मणि की शिलाएँ तृण-वितान कहीं कहीं,
छोड़े बड़े क्रीड़ाद्रि[1] थे शोभायमान कहीं कहीं।
थे नाचते केकी[2] कहीं थे हंस-पुंज कहीं कहीं,
निर्झर कहीं थे झर रहे, थे रम्य कुंज कहीं कहीं॥

सब लोग अजरामर वहाँ के रूपवान विशेष थे,
बलवान, शिष्ट-वरिष्ट जिनके दृग सदा अनिमेष थे।
सब अंग सुगठित श्रेष्ठ सबके, स्वर्ण वर्ण अशेष थे,
वर्णन किए जाते नहीं, जैसे मनोहर वेष थे॥

हों देखकर लज्जित जिन्हें काश्मीर-कुंकुम-क्यारियाँ,
थीं ठौर ठौर विहार करती सुन्दरी सुर नारियाँ।
सबके मुखों पर छा रही थी हर्ष की दिव्य-प्रभा,
मानो असंख्य सुधाकरों की थी वहाँ शोभित सभा॥

१. क्रीड़ा के पर्वत २. मोर।

सुरगण कहीं वीणा वजाकर हरि-चरित थे गा रहे,
कोई कहीं थे आ रहे, कोई कहीं थे जा रहे।
सर्वत्र क्रीड़ाएँ रुचिर वहु भाँति की थीं हो रहीं,
थी भद्र-भावों की हुई पूरी पराकाष्ठा वहीं॥

दुःख, शोक, आधिव्याधि, चिन्ता ये न कोई थीं वहाँ;
आनन्द, उत्सव, प्रेम के ही साज थे देखा जहाँ।
मद-मोह, राग-द्वेष के थे चिह्न भी मिलते नहीं,
सर्वत्र शान्ति, पवित्रता थी, पाप-ताप न थे कहीं॥

इस जन्म में वैकुण्ठ था देखा न अर्जुन ने कभी,
प्रच्छन्न[1] भित्ति, कपाट आदिक रत्न-विरचित थे सभी।
वहु वर्ण-किरणों का रुचिर आलोक अति उद्दण्ड था,
देखा हुआ मार्तण्ड मानो एक उसका खण्ड था॥

जाती जहाँ तक दृष्टि थी मिलता न उसका छोर था,
मन्दार कल्पादिक द्रुमों का दृश्य चारों ओर था।
अद्भुत अनेकों रंग के स्वच्छन्द खग थे गा रहे,
शीतल-सुगन्ध-समीर के थे मन्द झोंके आ रहे॥

फिर आप से ही आप वे हरि-धाम में खिच-से गये;
देखा वहाँ का दृश्य जव युग नेत्र तव मिच-से गये।
सिंहासनस्थ रमा सहित शोभित वहाँ भगवान थे,
घन-दामिनी जिनके उभय छाया-प्रकाश समान थे।

१. झरोखा।

थी चंचला[1] अचला[2] जहाँ, सर्वेश शोभित थे जहाँ,
वैभव वहाँ का-सा भला त्रैलोक्य में होगा कहाँ ?
अवलोक आभूषण-छटा होती अनल की भ्रान्ति थी,
करती अतिक्रम किन्तु उसको दिव्य उनकी कान्ति थी ॥

सानन्द सिंहासन निकट थीं सिद्धियाँ सारी खड़ी,
थीं व्यक्त रति, मति, धृति, क्षमादिक शान्तियुत प्यारी बड़ी।
शिव, विधि, सुरप, रवि, शशि, यमादिक भक्ति से थे भर रहे,
करते हुए मुसकान हरि सब पर कृपा थे कर रहे ॥

इसके अनन्तर पार्थ ने परिपूर्ण प्रेम उमंग में,
आता हुआ अभिमन्यु देखा जय-विजय के संग में।
अवलोक उसकी सुध उन्हें कुछ भी रही न शरीर की,
शोभा सहस्र गुनी प्रथम से थी अधिक उस वीर की ॥

कर जोड़कर अभिमन्यु ने प्रभु को प्रणाम किया वहाँ,
फिर सब सुरों को सिर झुकाकर स्वस्तिवाद लिया वहाँ।
सब देव उसके कर्म का सम्मान अति करने लगे,
उस काल मानो पार्थ सुख के सिन्धु में तरने लगे ॥

था जो अशेष-अभीष्ट-दायक, नित्य रहता था खिला,
वात्सल्य-युत अभिमन्यु को वह पद्मपद्मा[3] से मिला।
तब दिव्य-दर्शनों से प्रभा की वृष्टि-सी करते हुए,
बोले स्वयं भगवान यों सबके हृदय हरते हुए—

१. लक्ष्मी २. स्थिर ३. लक्ष्मी।

"सन्तुष्ट तूने है किया निज धर्म्मपालन से मुझे,
सौभद्र ! निज सामीप्य मैं देता सदा को हूँ तुझे।
पर और भी कुछ माँग तू, वर वृत्त तेरा गेय[1] है;
अपने जनों के अर्थ मुझको कौन वस्तु अदेय है ?"

अति मुग्ध होकर पार्थ ने तब मूँद आँखों को लिया,
पर खोलने पर फिर न वैसा दृश्य दिखलाई दिया।
सुस्मितवदन श्रीकृष्ण को ही सामने देखा खड़ा,
चित्रस्थ-से वे रह गये करते हुए विस्मय बड़ा।।

थी जिस समय उस दृश्य से सुधबुध न अर्जुन को रही,
राजा युधिष्ठिर आदि ने भी स्वप्न में देखा वही।
उस लोक-नाटक-सूत्रधर का ठाठ अति अभिराम है,
वह एक होकर भी सदा करता अनेकों काम है।।

तत्काल अर्जुन से वचन कहने लगे भगवान यों—
"हे वीर ! तुम निश्चेष्ट-से क्या कर रहे हो ध्यान यों ?
अब भी तुम्हारा दुःखदायी मोह क्या छूटा नहीं ?
अब भी प्रवल परतन्त्रता का जाल क्या टूटा नहीं ?

१. गाने के योग्य।

अभिमन्यु-विषयक शोक जो अब भी तुम्हें हो तो कहो,
गुरु-पुत्र-सम[1] ला दूं उसे मैं स्वस्थ जिसमें तुम रहो।
पर याद रक्खो बात यह, रहता तनु स्थायी नहीं,
बन्धन विनश्वर-विश्व का है सत्य सुखदायी नहीं॥

सच्चे अभीष्ट-स्थान का बस मार्ग ही संसार है,
साफल्य-पूर्वक कर चुका अभिमन्यु उसको पार है।
क्या शोक करना चाहिए उसके लिए मन में तुम्हें?
वह पुण्य-पद क्या दीखता है विश्व-बन्धन में तुम्हें?

जो धर्म-पालन से विमुख, जिसको विषय ही भोग्य है,
संसार में मरना उसी का सोचने के योग्य है।
जो इन्द्रियों को जीतकर धर्म्माचरण में लीन है,
उसके मरण का सोच क्या? वह मुक्त बन्धनहीन है॥

संसार में सब प्राणियों का देह तक सम्बन्ध है,
पड़ मोह-बन्धन में मनुज बनता स्वयं ही अन्ध है।
तनुधारियों का बस यहाँ पर चार दिन का मेल है,
इस मेल के ही मोह से जाता बिगड़ सब खेल है।

१. श्रीकृष्ण भगवान की शिक्षा समाप्त होने पर उनके शिक्षक सान्दीपन मुनि ने उनसे गुरुदक्षिणा में अपना मृत पुत्र मांगा था और भगवान ने तत्काल यमपुरी में जाकर उसे ला दिया था।

सम्पूर्ण दुःखों का जगत में मोह ही बस मूल है,
भावी विषय पर व्यर्थ मन में शोक करना भूल है।
निज इष्ट साधन के लिए संसार-धारा में बहे,
पर नीर से नीरज-सदृश उससे अलिप्त बना रहे॥

उत्पत्ति होती है जहाँ पर नाश भी होता वहाँ,
होता विकास जहाँ सखे! है ह्रास भी होता वहाँ।
होता जहाँ पर सौख्य दुःख भी वहाँ अनिवार्य है,
करती प्रकृति अविराम अपना नियमपूर्वक कार्य है॥

"सुख-दुःख-विचार-विहीन तुमको कर्म का अधिकार है,
संसार में रहना नहीं, पाना अचल उद्धार है।
माना न तुमने एक भी, सौ सौ तरह हमने कहा,
अब भी तुम्हारा चित्त क्या व्याकुल विमोहित हो रहा?"

गद्गद हृदय से पार्थ तब बोले वचन श्रद्धा भरे,
"लीला तुम्हारी है विलक्षण हे अखिल लोचन हरे!
इस आपदा से त्राण मेरा कौन करता तुम बिना?
प्रत्यक्ष दिखलाकर सभी दुःख कौन हरता तुम बिना?

जो कुछ दिखाया आज तुमने वह न भूलेगा कभी,
क्या दृष्टि में फिर और ऐसा दृश्य भूलेगा कभी?"
कहते हुए यों पार्थ फिर हरि के पदों में गिर गए,
प्रभु ने किये तब प्रकट उन पर प्रेम-भाव नये-नये॥

इसके अनन्तर पार्थ-युत कैलास पर हरि आ गये,
मानो सुयश के पुञ्ज पर युग कंज छवि से छा गये।
थी यों शिवा-सेवित वहाँ ध्यानस्थ शंकर की छटा,
मानो सुधांशु-कला-निकट निश्चल शरद की सित घटा ॥

अर्जुन समेत रमेश ने गौरीश का वन्दन किया,
उठ शम्भु ने उनका बहुत सानन्द अभिनन्दन किया।
आशीष देकर पार्थ को वन्दन किया भगवान का,
रखते बड़े जन ध्यान हैं सबके उचित सम्मान का ॥

कर पुण्य-दर्शन भक्त-युत भगवान का निज गेह में,
कृतकृत्यता मानी गिरिश ने मग्न हो सुस्नेह में।
फिर नम्रतापूर्वक कहा—"किस हेतु इतना श्रम किया?"
हरि हँस गए, हँस आप हर ने अस्त्र अर्जुन को दिया ॥

वह अस्त्र पाकर पार्थ के औदास्य का उपशम हुआ,
अति तेज उनका वज्रधारी इन्द्र के ही सम हुआ।
समझा मरा ही-सा उन्होंने शत्रुवर अपना वहीं,
प्रभु का प्रसाद विशेष करता है कृतार्थ किसे नहीं?

होने लगे फिर हरि विदा सानन्द जब श्रीकण्ठ से,
कर प्रार्थना तब पार्थ बोले प्रेम-गद्गद कण्ठ से—
"हे भक्त-वत्सल ईश! तुमको बार बार प्रणाम है,
सर्वेश! मंगल कीजियो, 'शंकर' तुम्हारा नाम है ॥"

रख हाथ सिर पर शम्भु ने जय-दान अर्जुन को दिया,
प्रस्थान अपने स्थान को हरि-युत उन्होंने तव किया।
पहुँचे शिविर में जिस समय वे हो रही थी गत निशा,
कुछ देर में दर्शित हुई द्युति-दृश्य से प्राची दिशा ॥

नूतन पवन के मिस प्रकृति ने साँस ली जी खोल के,
गाने लगी श्यामा सुरीली कण्ठ से रस घोल के।
क्या लोक-निद्रा भंग कर यह वाक्य कुक्कुट ने कहा—
"जागो, उठो, देखो कि नभ मुक्तावली वरसा रहा।"

तमचर उलूकादिक छिपे, जो गर्जते थे रात में,
पाकर अँधेरा ही अधम जन घूमते हैं घात में।
सूखे कुसुम-सम झड़ गये तारागणों के गुच्छ क्या !
निज सत्व रख सकते भला पर-राज्य में हैं तुच्छ क्या ?

जव तक हुआ आकाश में दिनकर न आप प्रकाश था,
उसके प्रथम ही हो गया सम्पूर्ण तम का नाश था !
सव कार्य्य कर देता वड़ों का पुण्य-पूर्ण प्रताप ही,
तेजस्वियों के विघ्न सारे दूर होते आप ही ॥

विधि-यक्त सूतों ने वहाँ आकर जगाया तव उन्हें,
वातें विमोहित कर रही थीं स्वप्न की वे सव उन्हें।
वे शीघ्र शय्या से उठे गुणगान कर भगवान के,
कर नित्य कृत्य समाप्त फिर पहुँचे सभा में आन के ॥

सम्पूर्ण स्वजनों के सहित देखा युधिष्ठिर को वहाँ,
विरुदावली वन्दीजनादिक गान करते थे जहाँ।
सरगुरु सहित होती सुशोभित ज्यों सुरेश्वर की सभा,
हरि-युत युधिष्ठिर की सभा त्यों पा रही थी सुप्रभा॥

सबसे मिले अर्जुन वहाँ सानन्द समुचित रीति से,
पूछी कुशल रख हाथ सिर पर धर्म्मसुत ने प्रीति से।
वर्णन धनंजय ने किया सब हाल उनसे रात का,
आदेश माँगा अन्त में रण में विपक्ष-विघात का॥

वृत्तान्त उनका श्रवण कर श्रीकृष्ण ओर निहार के,
पुलकित युधिष्ठिर हो गए सुध-बुध समस्त विसार के।
प्रेमाश्रु दीर्घ विलोचनों से निकलकर बहने लगे,
फिर भक्ति-विह्वल-कण्ठ से वे यों वचन कहने लगे—

"कब क्या करोगे तुम जनार्दन ! जानते हो सो तुम्हीं,
हैं ठाठ ये जितने जगत के ठानते हो सो तुम्हीं।
केशव ! तुम्हारे कार्य्य सारे सब प्रकार विचित्र हैं,
सब नेति नेति पुकार कर गाते पवित्र-चरित्र हैं॥

जैसे सुरों को वज्रधारी शक्र का आधार है,
हे चक्रपाणि हरे ! हमारा सब तुम्हीं पर भार है।
संसार में सब विध हमारे सर्व-साधन हो तुम्हीं,
तन हो तुम्हीं, मन हो तुम्हीं, धन हो तुम्हीं, जन हो तुम्हीं॥

मैं बहुत कहना चाहता हूँ पर कहा जाता नहीं,
आश्चर्य है चुपचाप भी मुझसे रहा जाता नहीं।
भगवान! भक्तों की भयंकर भूरि-भीति भगाइयो,
इस विपद-पारावार से प्रभु शीघ्र पार लगाइयो॥

अर्जुन अनुज को सौंपता हूँ मैं तुम्हारे हाथ में,
जो योग्य समझो कीजियो प्रभुवर! हमारे साथ में!
बस अन्त में विनती यही है छोड़कर बातें सभी,
हैं हम तुम्हारे ही सदा, मत भूलियो हमको कभी॥"

यों कह युधिष्ठिर ने वचन जब मौन धारण कर लिया,
निश्चित कर भगवान ने तब अभयदान उन्हें दिया।
तत्काल ही फिर युद्ध के बाजे वहाँ बजने लगे,
सोत्साह जय जयकार कर सब शूर गण सजने लगे॥

तब भीम-सात्यकि आदि को रक्षक युधिष्ठिर का बना,
गाण्डीवधारी पार्थ ने समझी सफल निज कामना।
कर वन्दना श्रीकृष्ण की वे शीघ्र ही रथ पर चढ़े,
बलवान वृत्रासुर-बिध को मेघवाहन[1] सम गढ़े॥

करते हुए गर्जन गगन में दौड़ते हैं घन यथा,
हय-गज-रथादिक शब्द करते चल पड़े अगणित तथा।
उड़ने लगी सब ओर रज होने लगी कम्पित धरा;
मानो न सहकर भार वह ऊपर चली करके त्वरा॥

१. मेघवाहन=इन्द्र।

पीछे युधिष्ठिर को किये आगे चले अर्जुन वली,
लचने लगे फण शेष के, मचने लगी अति खलवली।
अन्यत्र अनुगामी बड़ों के सुजन होते सर्वदा,
पर आपदा में दीखते हैं अग्रगामी ही सदा॥

पञ्चम सर्ग

था विकट शकटव्यूह सम्मुख द्रोण का कोसों अड़ा,
घन कण्टकित वन-तुल्य जिसका भेदना दुष्कर बड़ा।
पीछे जयद्रथ को छिपा छै नायकों के साथ में,
आचार्य ही थे द्वाररक्षक शस्त्र लेकर हाथ में ॥

अवलोक सम्मुख पार्थ ने गुरु को प्रणाम किया अहा,
आशीष दे आचार्य्य ने उनसे प्लुत-स्वर में कहा—
"देकर परीक्षा आज अर्जुन ! तुष्ट तुम मुझको करो;
आओ, दिखाओ हस्त-कौशल, यह समर-सामर तरो।"

सुत-घातकों को देखते ही पार्थ मानो जल उठे,
मुख-मार्ग से क्या त्वेष ही तो वे वहाँ न उगल उठे—
"आचार्य्य ! मेरा हस्त-कौशल देख लेना फिर कभी,
अभिमन्यु का बदला तुम्हें लेकर दिखाना है अभी ॥"

इस भाँति बातों में समर का 'श्रीगणेश' हुआ जहाँ,
होने लगा तत्काल ही अति-तुमुल कोलाहल वहाँ।
ज्यों नीर बरसाते जलद तरते हुए गुरु-गर्जना,
लड़ने लगे दोनों प्रबल-दल कर परस्पर तर्जना ॥

उस ओर द्रोणाचार्य्य थे इस ओर अर्जुन वीर थे,
गुरु-शिष्य दोनों छोड़ते तीखे हजारों तीर थे।
हैं घोर वाद-विवाद करते दो प्रबल पंडित यथा,
करने लगे दोनों परस्पर शस्त्र वे खंडित तथा ॥

दोनों रथी इस शीघ्रता से थे शरों को छोड़ते,
जाना न जाता था कि वे कब थे धनुप पर जोड़ते।
थे बाण दोनों के गगन में इस तरह फहरा रहे—
ज्यों ऊर्म्मिमाली में अनेकों उरग-वर लहरा रहे॥

करने लगे दोनों दलों को दलित यों दोनों बली,
कुछ देर ही में रक्त की धारा धरा पर बह चली।
लड़ने लगे सब शूर सैनिक, भीति से कायर भगे;
सानन्द गृध्र शृगाल आदिक घूमने रण में लगे॥

आगे न अर्जुन बढ़ सके आचार्य्य - बल - वातूल[1] से,
कल्लोल[2] लोल-पयोधि के ज्यों बढ़ न सकते कूल से।
बोले वचन तब पार्थ से हरि—"व्यर्थ यह संग्राम है,
है काल थोड़ा और करना बहुत भारी काम है।"

यों कह वचन श्रीकृष्ण ने रथ अन्य ओर बढ़ा दिया,
चेष्टा बहुत की द्रोण ने, पर क्या हुआ उनका किया?
प्रबल-प्रभञ्जन-वेग-गति रोकी न जा सकती कहीं,
करने लगे वे विवश होकर व्यूह की रक्षा वहीं॥

१. आंधी, बवंडर २. तरंगें।

रथ देख बढ़ता पार्थ का सम्पूर्ण शत्रु दुखी हुए,
सब शूर पाण्डव-पक्ष के कर हर्षनाद सुखी हुए।
लड़ने युधिष्ठिर से लगे तब द्रोण बढ़कर सामने,
संग्राम जैसा था किया गाङ्गेय से भृगुराम[1] ने।

जिस ओर सेना थी गजों की पर्वतों के सम अड़ी,
उस ओर ही रथ ले गये हरि शीघ्रता करके बड़ी।
तब पार्थ बाणों से मतंगज यों पतन पाने लगे—
घन रवि-करों से विद्ध मानो भूमि पर आने लगे॥

जाज्वल्यज्वालामय अनल की फैलती जो कान्ति है,
कर याद अर्जुन की छटा होती उसी की भ्रान्ति है।
इस युद्ध में जैसा पराक्रम पार्थ का देखा गया,
इतिहास के आलोक में है सर्वथा ही वह नया॥

करता पयोदों को प्रभंजन शीघ्र अस्तव्यस्त ज्यों,
करने लगे तब ध्वस्त अर्जुन शत्रु-सैन्य-समस्त त्यों।
वे रिपु-शरों को काटकर रण-भूमि यों भरने लगे—
रण-चण्डिका-पूजन सरोजों से यथा करने लगे॥

१. भीष्म ने अपने भाई विचित्रवीर्य के विवाह के लिए काशिराज की तीन कन्याओं का बलपूर्वक हरण किया था। उनमें से अम्बा नामक कन्या पहले ही शाल्वराज को वरने का प्रण कर चुकी थी, इससे उन्होंने उसे छोड़ दिया। परंतु फिर शाल्वराज ने उसके साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया, तब वह भीष्म से बदला लेने की इच्छा से परशुराम की शरण में गई। उसी के सम्बन्ध में गुरु और शिष्य अर्थात् परशुराम और भीष्म में भयंकर युद्ध हुआ था।

ज्यों ज्यों शरों से शत्रुओं को थे धनंजय मारते,
श्रीकृष्ण थे रथ को बढ़ाते कुशलता विस्तारते।
उस काल रथ के हय तथा गांडीव के शर जगमगे,
करते हुए स्पर्द्धा परस्पर साथ ही चलने लगे।

शर-रूप खर-रसना[1] पसारे रिपु रुधिर पीती हुई,
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मनचीती हुई।
अर्जुन-कराग्रोत्साहिता[2] प्रत्यक्ष कृत्या[3] मूर्ति-सी,
करने लगी गांडीव-मौर्वी[4] प्रलयकांड-स्फूर्ति-सी॥

खरबाण-धारा रूप जिसकी प्रज्वलित ज्वाला हुई,
जो वैरियों के व्यूह को अत्यन्त विकराला हुई।
श्रीकृष्ण - रूपी वायु से प्रेरित धनंजय[5] ने वहाँ,
कौरव-चमू[6]-वन कर दिया तत्काल नष्ट जहाँ तहाँ॥

टूटे हुए रथ थे कहीं, थे मृत गजाश्व[7] अड़े कहीं,
थे रुण्ड-मुण्ड-करादि रण में छिन्न-भिन्न पड़े कहीं,
इस भाँति अस्तव्यस्त फैले दीखते थे वे सभी—
मानो हुई नभ से रुधिरमय वृष्टि यह अद्भुत अभी!

१. जीभ, २. अर्जुन के हाथ के अग्रभाग से उत्साहित की हुई, ३. संहारकारिणी शक्ति, ४. अर्जुन के धनुष की डोरी, ५. अर्जुन-पक्ष में अग्नि, ६. फौज, ७. हाथी-घोड़े।

गति रोकने को पार्थ की जो वीर रण करते गए,
क्षणमात्र में उनके शरों से वे सभी मरते गये।
जाने उन्होंने शत्रुगण कितने वहाँ मारे नहीं,
जाते किसी से हैं गिने आकाश के तारे कहीं ?

इस भाँति अपने वैरियों को युद्ध में संहारते,
बढ़ने लगे आगे धनंजय वीरता विस्तारते।
पर देख दिन को गमन करते वे बहुत क्षोभित हुए,
अतएव दिनकर-तुल्य ही चलते हुए शोभित हुए।

मारी श्रुतायुध ने गदा श्रीकृष्ण को उस काल में,
पर वह उचटकर जा लगी उलटी उसी के भाल[1] में,
सिर फट गया उसका वहीं, मानो अरुण रंग का घड़ा,
हाँ विधि-विरुद्धाचार से किसको नहीं मरना पड़ा ?

अत्यन्त दुर्गम भूमि में अविराम चलने से थके,
होकर तृषित रथ-अश्व उनके जब न सत्वर चल सके।
वरुणास्त्र-द्वारा पार्थ ने क्षिति से निकाला जल वहीं।
भगवान की जिस पर कृपा हो कुछ कठिन उसको नहीं।।

१. श्रुतायुध की वह गदा जो उन्होंने श्रीकृष्ण को मारी थी, अमोघ थी। पर साथ ही यह वर भी था कि यदि युद्ध न करने वाले पुरुष पर छोड़ी जायगी तो पलटकर मारने वाले को ही मार डालेगी। श्रीकृष्ण युद्ध नहीं करते थे, पर क्रोध में आकर श्रुतायुध ने उन पर उसका प्रहार कर दिया। अतएव उसका फल उलटा हुआ—स्वयं श्रुतायुध ही मारे गये।

रचते हुए सर-सा वहाँ निज त्राण भी करते हुए,
त्यों युद्ध कर निज शत्रुओं के प्राण भी हरते हुए;
उत्पत्ति-पालन-प्रलय के-से कृत्य अर्जुन ने किये,
विधि-विष्णु-हर के-से अकेले दिव्यबल दिखला दिये।

हय - गज - रथादिक थे जहाँ पाषाणखण्ड बड़े बड़े,
सिर-कच-चरण-कर आदि ही जल-जीव जिसमें थे पड़े।
ऐसे रुधिर - नद में वहाँ रथ-रूप नौका पर चढ़े,
श्रीकृष्ण - नाविकयुक्त अर्जुन पार पाने को बढ़े॥

यों देख बढ़ते पार्थ को कुरुराज अति विह्वल हुआ,
चेष्टा बहुत की रोकने की पर न कुछ भी फल हुआ।
तब वह निरा निस्तेज होकर घोर चिन्ता से घिरा;
जाकर निकट यों द्रोण के कहने लगा कर्कश गिरा—

"आचार्य ! देखो, आपके रहते हुए भी आज यों,
दल नष्ट करता पार्थ है मृग-झुण्ड को मृगराज ज्यों।
हैं शूर मेरे पक्ष के यों कह रहे मुझसे सभी—
'जो चाहते आचार्य तो अर्जुन न बढ़ सकते कभी'॥

निज शक्ति भर मैं आपकी सेवा सदा करता रहा,
त्रुटि हो न कोई भी कभी, इस बात से डरता रहा,
सम्मान्य ! मैंने आपका अपराध ऐसा क्या किया—
जो सामने से आपने उसको निकल जाने दिया ?

पहले वचन देकर समय पर पालते जो नहीं,
वे हैं प्रतिज्ञा - घातकारी निन्दनीय सभी कहीं।
मैं जानता जो पाण्डवों पर प्रीति ऐसी आपकी,
आती नहीं तो यह कभी वेला विकट सन्ताप की॥

निज सेवकों के अर्थ मन में सोचकर धर्म्मार्थ को,
घुसने न देते व्यूह में जो आप मध्यम पार्थ को,
होती सहज ही में सफल तो आज मेरी कामना,
है कौन ऐसा, आपका रण में करे जो सामना ?

जो हो चुका सो हो चुका अब सोच करना व्यर्थ है;
गत काल के लौटालने को कौन शूर समर्थ है ?
है किन्तु अब भी समय यदि कुछ आपको स्वीकार हो,
भय-पूर्ण-पारावार भी पुरुपार्थ हो तो पार हो॥

पूर्वानुकम्पा का मुझे परिचय पुनः देते हुए,
अन्तःकरण से कौरवों की तरणि को खेते हुए,
अब भी जयद्रथ को बचाकर अनुचरों का दुःख हरो,
गुरुदेव ! जाता है समय, रक्षा करो, रक्षा करो॥"

इस भाँति निज निन्दा श्रवण कर प्रार्थना के व्याज[1] से,
हो क्षुब्ध द्रोणाचार्य्य तब कहने लगे कुरुराज से—
"है यह तुम्हारे योग्य ही जैसी गिरा तुमने कही,
तुम जो कहो, या जो करो, है सर्वदा थोड़ा वही॥

१. मिस।

जो लोग अनुचित काम कर जय चाहते परिणाम में,
है योग्य उनकी-सी तुम्हारी यह दशा संग्राम में।
विष-बीज बोने से कभी जग में सुफल फलता नहीं,
विश्वेश की विधि पर किसी का वश कभी चलता नहीं॥

यह रण उपस्थित कर स्वयं अब दोष देते हो मुझे,
कह जानते हैं बस कुटिल जन वचन ही विष के बुझे।
दुष्कर्म तो दुर्बुद्धि-जन हठ युक्त करते आप हैं,
पर दोष देते और को होते प्रकट जब पाप हैं॥

सब काल निस्संदेह मेरी पाण्डवों पर प्रीति है,
पर इस विषय में व्यर्थ हो होती तुम्हें यह भीति है।
मैं पाण्डवों को प्यार कर लड़ता तुम्हारी ओर से,
विचलित मुझे क्या जानते हो आत्म-धर्म्म कठोर से ?

प्रेमादि जितने भाव हैं, वे देह के न विकार हैं;
सब मानवों के चित्त ही उनके पवित्रागार हैं।
अतएव यद्यपि चित्त में हैं पाण्डवों ने घर किये;
पर देह के व्यापार सारे हैं तुम्हारे ही लिए॥

गुण पर न रीझे वह मनुज है, तो भला पशु कौन है ?
निज शत्रु के गुणगान में भी योग्य किसको मौन है ?
तुमने सजा यों पाण्डवों से शत्रुता का साज है,
पर क्या न उनके शील पर आती तुम्हें कुछ लाज है ?

मैंने तुम्हारे हित स्वयं ही क्या उठा रक्खा कहो?
अभिमन्यु के वध के सदृश मुझसे हुआ है अघ अहो!
जब तक न प्रायश्चित्त उसका मृत्यु से हो जायगा,
तब तक कभी क्या चित्त मेरा शान्ति कुछ भी पायगा!

तुम पुत्र-सम प्यारे मुझे हो फिर तुम्हीं सोचो भला;
क्या मैं तुम्हारे हित समर की शेष रक्खूंगा कला?
है बात यह, मुझसे विमुख हो पार्थ अपना रथ हटा,
दक्षिण तरफ से व्यूह में पहुँचा जहाँ थी गज-घटा॥

रुकता वहाँ किससे कहो, वह अद्वितीय महारथी?
तिस पर उसे है मिल गया श्रीकृष्ण जैसा सारथी!
पर त्याग कर तुम व्यग्रता धीरज तनिक धारण करो,
कर्णादिकों के साथ उसका यत्न से वारण करो॥

मेरा यहीं रहना उचित है व्यूह-रक्षा के लिए,
तिस पर युधिष्ठिर पर विजय की मैं प्रतिज्ञा हूँ किये।
तुम कौन कम हो पार्थ से, उत्साह को छोड़ो नहीं,
होता जहाँ उत्साह है होती सफलता भी वहीं॥

यद्यपि नहीं होते सभी के एक-से पुरुपार्थ हैं,
तुम भी उसी कुल में हुए जिसमें हुए ये पार्थ हैं।
यह खेल पाँसों का नहीं है, प्राण का पण[1] आज है;
जो आज जीतेगा उसी का जीतना कुरुराज है॥

१. बाजी।

जिसको पहन कर इन्द्र ने वृत्रासुरायुध सह लिये,
जिसके लिए मैंने बहुत से व्रत तथा तप हैं किये।
है वज्र की भी चोट जिससे सहज जा सकती सही,
आओ, तुम्हें मैं दिव्य अपना कवच पहना दूं वही।"

आचार्य्य ने तब वह कवच कुरुराज को पहना दिया;
उस काल सचमुच शक्र-सा ही तेज उसने पा लिया।
कर वन्दना गुरु की मुदित वह पार्थ से लड़ने चला,
विख्यात विन्ध्याचल यथा आकाश से अड़ने चला!

चिन्तित युधिष्ठिर भी हुए इस ओर अर्जुन के लिए;
निज भाव सात्यकि पर उन्होंने शीघ्र यों प्रकटित किये—
"हे वीर! अर्जुन का न अब तक वृत्त कुछ विश्रुत हुआ,
जगदीश जाने क्यों हमारा चित्त चिन्ता-युत हुआ।

हा! वह कपिध्वज की ध्वजा भी दृष्टि में आती नहीं,
उनकी रथ-ध्वनि भी यहाँ अब है सुनी जाती नहीं।
जब से हुए हैं ओट वे अब तक न दीख पड़े मुझे,
हे दैव! बतला तो सही स्वीकार है अब क्या तुझे?

हैं व्यग्र सुनने को श्रवण पर श्रव्य सुन पाते नहीं;
दृग दीन हैं पर दृश्य फिर भी दृष्टि में आते नहीं।
है चाहती खिलना तदपि मन की कली खिलती नहीं;
मैं शान्ति पाना चाहता हूँ पर मुझे मिलती नहीं॥

होंगे न जाने किस दशा में हरि तथा अर्जुन कहाँ ?
हा ! आज पल पल में विकलता बढ़ रही मेरी यहाँ।
कुछ बात ऐसी है कि जिससे चित्त चञ्चल हो रहा,
विश्वास है, पर त्रास मेरे धैर्य को है खो रहा ॥

हे सात्यके ! अब शीघ्र मुझको शान्ति देने के लिए,
जाओ मुकुन्दार्जुन-निकट संवाद लेने के लिए।
कुछ भी विलम्ब करो न अब, करता विनय मैं क्लेश से,
अनुचित लगे यदि विनय तो जाओ अभी आदेश से ॥

इस कार्य्य - साधन के लिए मैंने तुम्हीं को है चुना,
हो अनुभवी तुम वीर, तुमने बहुत कुछ देखा सुना।
सप्रेम अर्जुन ने तुम्हें दी युद्ध की शिक्षा सभी,
अतएव, अनुगामी बनो तुम आप निज गुरु के अभी ॥

चिन्ता करो मेरी न तुम रक्षक त्रिलोकीनाथ हैं,
सहदेव, धृष्टद्युम्न आदिक शूर अगणित साथ हैं।
अवसर नहीं है देर का, अब शीघ्र तुम तैयार हो,
आशीष देता हूँ—तुम्हारा पथ सहज ही पार हो ॥"

यों सुन युधिष्ठिर के वचन सप्रेम सात्यकि ने कहा—
"है मान्य मुझको आर्य का आदेश जो कुछ हो रहा।
पर कृष्ण - सहचर के लिए कुछ सोच करना है वृथा,
हरि के कृपाभाजन-जनों के कुशल की है क्या कथा ?

त्रैलोक्य में ऐसा बली आता नहीं है दृष्टि में,
जीवित खड़ा जो रह सके गाण्डीव की शर-वृष्टि में!
कैसे टलेगा पार्थ का प्रण जो नहीं अब तक टला!
जो बात होने की नहीं किस भाँति वह होगी भला?

आदेश पाकर आपका जाता अभी मैं हूँ वहाँ,
पर आप द्रोणाचार्य से अति सजग रहिएगा यहाँ।
हो क्षुब्ध, मर्य्यादा-रहित-जलनिधि-सदृश वे हो रहे;
उनके सुबल-कल्लोल में सब आज फिरते हैं बहे॥"

कहकर वचन यों वृष्णिनन्दन सात्यकि प्रस्तुत हुआ,
इस कार्य्य में उसका पराक्रम पार्थ-सा ही श्रुत हुआ।
वह शत्रुओं को मारता सम्मुख पहुँच आचार्य्य के;
लड़ने लगा कौशल प्रकट कर विविध विध रण-कार्य्य के॥

पड़ मार्ग में ज्यों रोक लेता शैल जल की धार को,
त्यों देख रुकता द्रोण से अपनी प्रगति के द्वार को।
झट सात्यकि भी पार्थ की ही रीति से हँसकर चला,
जो कार्य्य गुरु ने है किया वह शिष्य क्यों न करे भला॥

होकर प्रविष्ट व्यूह में तब पार्थ की ही नीति से,
सात्यकि गमन करने लगा, कर युद्ध अद्भुत रीति से।
दावाग्नि से मचती विपिन में ज्यों भयंकर खलबली,
करने लगा निज वैरियों को व्यस्त त्यों ही वह बली॥

सात्यकि गया, पर, स्वस्थ तो भी धर्मराज हुए नहीं,
भेजा उन्होंने भीम को भी अनुज की सुध को वहीं।
रखते न अपनी आप उतनी चित्त में चिन्ता कभी,
निज प्रियजनों का ध्यान जितना ज्येष्ठ जन रखते सभी॥

अर्जुन तथा सात्यकि-गमन से द्रोण थे क्षोभित बड़े,
अतएव पहुँचे भीम जब बोले वचन वे यों कड़े—
"अर्जुन-सदृश क्या भीम तू भी व्यूह में घुसने चला?
क्या छल तुझे भी प्रिय हुआ जब से शकुनि ने है छला!"

सुनकर वचन आचार्य के हँस भीम ने उत्तर दिया—
"गुरु से धनंजय ने न लड़कर तात! क्या छल है किया?
छल-छद्म करने में सदा हम सब निरे अनभिज्ञ हैं,
इस काम में तो बस हमारे बन्धु ही वर विज्ञ हैं!

हाँ, कार्य्य अर्जुन का यही समुचित न जा सकता गिना,
रिपु मारने जो वे गये गुरु-दक्षिणा सौंपे बिना।
हे आर्य्य! वह ऋण व्याज-युत अब मैं चुकाता आपको,
तैयार होकर लीजिये, तजिये हृदय के ताप को।"

कहकर वचन यों भीम उन पर बाण बरसाने लगे,
अद्भुत, अपूर्व, असीम अपनी शक्ति दरसाने लगे।
पर काटकर सब बाण उनके तोड़कर रथ भी अहा!
"गुरु-ऋण अभी न चुका वृकोदर!" द्रोण ने हँसकर कहा॥

घायल हुआ मृगराज ज्यों हतबुद्धि होता क्रोध से,
क्रोधित हुए त्यों भीम भी आचार्य के इस बोध से।
करते हुए त्यों ओष्ठ-दंशन अरुण हो अपमान से,
शोभित हुए वे दौड़ते निज बन्धुवर हनुमान-से॥

ज्यों द्रोणगिरि वज्रांग ने था हाथ पर धारण किया,
त्यों द्रोण रथ को झट उन्होंने एक साथ उठा लिया।
कन्दुक-सदृश फिर दूर नभ में शीघ्र फेंक दिया उसे,
कर सिंहनाद सवेग तब वे व्यूह के भीतर घुसे॥

होने लगी अति घोर ध्वनि सब ओर हाहाकार की,
आशा रही न किसी किसीको द्रोण के उद्धार की।
पर बीच ही में कूद रथ से वृद्ध गुरु आगे बढ़े,
फिर युद्ध करने के लिये वे दूसरे रथ पर चढ़े॥

रथ युक्त फिर भी भीम ने उन्हें अति रोष से,
पूरित किया फिर व्योम को घन तुल्य अपने घोष से,
कर युद्ध बारंबार यों ही द्रोण को 'गुरु-ऋण' चुका,
वह वीर पहुँचा व्यूह में, न कराल शस्त्रों से रुका॥

जब वायु-विक्रम भीम पर वश द्रोण का न वहाँ चला,
हो क्रुद्ध उन कुल-दीप ने तब पाण्डवों का दल मला।
फिर धर्म्मभीरु अजातरिपु को युद्ध से विचलित किया,
इस भाँति निज अपमान का अभिमान-युत बदला लिया॥

दैत्यारि ने ज्यों भूमि-हित था सिन्धु को विदलित किया,
उस ओर त्यों ही भीम ने भी व्यूह को विचलित किया।
होने लगे रिपु नष्ट यों उनके प्रबल-भुजदंड से,
होते तृणादिक खंड ज्यों वातूल-जाल-प्रचंड से ॥

मिल दुष्ट दुर्योधन - अनुज तब भीम से लड़ने लगे,
पर शीघ्र मर मर कर तभी वे भूमि पर पड़ने लगे।
अम्भोज-वन को मत्त गज करता यथा मर्दित स्वतः,
मारा वृकोदर ने उन्हें झट झपट झूम इतस्ततः ॥

होकर पराजित, भीति, कातर शीघ्र उस बलधाम से,
सब सैन्य हाहाकार कर भगने लगी संग्राम से।
तब वीर कर्ण समक्ष सत्वर उग्र साहस - युत हुआ,
उस काल दोनों में वहाँ पर युद्ध अति अद्भुत हुआ ॥

बहु बाण सहकर कर्ण के मारी वृकोदर ने गदा,
सम्मुख चली इस भाँति वह प्रत्यक्ष मानो आपदा।
पर वज्र सम जब तक गिरे रथ पर गदा वह भीम की,
रथ छोड़ने में शीघ्रता राधेय ने निस्सीम की ॥

वह तो किसी विध बच गया झट कूद रथ के द्वार से;
पर सूत, हय, रथ, नष्ट होने से बचे न प्रहार से।
हो अति कुपित वह वीर तब झट दूसरे रथ पर चढ़ा,
मध्याह्न का मार्त्तण्ड मानो था महाद्युति से मढ़ा ॥

शर मार तत्क्षण भीम को व्रण-पूर्ण उसने कर दिया,
बलवन्त-वीर वसन्त ने किंसुक यथा विकसित किया।
करते हुए तब देह-रक्षा मृत गजों की ढाल से,
बढ़ने अगाड़ी ही लगे वे शीघ्र तिरछी चाल से॥

पर, अर्जुनादिक पांडवों का वध न करने के लिए,
करुणार्द्र होकर कर्ण ने थे वचन कुन्ती को दिए[1]।
पाकर सुअवसर भी इसीसे सोचकर उस बात को,
निर्जीव मात्र किया नहीं उसने वृकोदर-गात को॥

हँसता हुआ तब भीम का उपहास वह करने लगा;—
"रे खल! खड़ा रह, क्यों समर से दूर फिरता है भगा?
तुझसे बनेगा क्या भला जो पेट ही भर जानता,
रे मूढ़! अपने को वृथा ही वीर है तू मानता॥"

प्रण था धनंजय ने किया राधेय के भी घात का,
उत्तर दिया कुछ भीम ने इससे न उसकी बात का।
अति रोप तो आया उन्हें तो भी उसे मारा नहीं,
सम्मान से भी धर्म्म-बन्धन हो किसे प्यारा नहीं?

१. कर्ण वास्तव में कुन्ती के पुत्र थे। भारतीय युद्ध होने के पहले कुन्ती ने एक दिन कर्ण से यह बात कही और प्रार्थना की कि वे दुर्योधन का पक्ष छोड़कर युधिष्ठिर के पक्ष में हो जायें, पर दृढ़प्रतिज्ञ कर्ण ने ऐसे समय में दुर्योधन का साथ छोड़ देना धर्म-विरुद्ध समझा; तथापि माता समझकर उन्होंने कुन्ती को वचन दिया कि अर्जुन के सिवा और किसी पाण्डव को युद्ध में न मारेंगे। इसी से अवसर पाकर भी उन्होंने भीमसेन को नहीं मारा।

षष्ठ सर्ग

उस ओर था भूरिश्रवा से वीर सात्यकि लड़ रहा,
झंझानिल-प्रेरित जलद ज्यों हो जलद से अड़ रहा।
बहु युद्ध करने से प्रथम ही था यदपि सात्यकि थका,
पर देख अर्जुन को निकट उत्साह से वह था छका॥

उस काल दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ,
है योग्य कहना बस यही अद्‌भुत वही वैसा हुआ।
सब वीर लड़ना छोड़ क्षण भर देखने उसको लगे,
कह 'धन्य धन्य' पुकार कर सब रह गये गुण पर ठगे।

रथ-अश्व दोनों के शरों से साथ दोनों के मरे,
व्रण-पूर्ण दोनों हो गये तो भी न वे मन में डरे।
करने लगे फिर क्रुद्ध दोनों बाहु युद्ध विशुद्ध यों—
युग गिरि सपक्ष समक्ष हों लड़ते विपक्ष-विरुद्ध ज्यों—

लड़ते हुए सात्यकि हुआ जब श्रमित शोणित से सना,
तब खड्ग से भूरिश्रवा ने शीश चाहा काटना।
पर वार ज्यों ही कर उठाकर वेग से उसने किया,
त्यों ही धनञ्जय के विशिख ने काट उसका कर दिया॥

करवाल-युत जब केतु-सम भूरिश्रवा का कर गिरा,
सब शत्रु तब कहने लगे इस कार्य्य को अनुचित निरा।
वृषसेन, कर्ण, कृपादि ने धिक्कार अर्जुन को दिया—
"धिक् धिक् धनंजय! पापमय दुष्कर्म यह तुमने किया॥"

बोला जयद्रथ से वचन कुरुराज तब सानन्द यों—
"हे वीर ! रण में अब नहीं तुम घूमते स्वच्छन्द क्यों ?
अब सूर्य्य के सम पार्थ को भी अस्त होते देख लो,
चलकर समस्त विपक्षियों को व्यस्त होते देख लो ॥"

कहकर वचन कुरुराज ने यों हाथ उसका धर लिया,
कर्णादि के आगे तथा उसको खड़ा फिर कर दिया।
उस काल निर्मल-मुकुर-सम उसका वदन दर्शित हुआ,
पाकर यथा अमरत्व वह निज हृदय में हर्षित हुआ ॥

खल शत्रु भी विश्वास जिनके सत्य का यों कर रहे,
निश्चिन्त, निर्भय, सामने ही मोद-नद में तर रहे।
है धन्य अर्जुन के चरित को, धन्य उनका धर्म है;
क्या और हो सकता अहो ! इससे अधिक सत्कर्म है ?

वाचक ! विलोको तो जरा, है दृश्य क्या मार्मिक अहो !
देखा कहीं अन्यत्र भी क्या शील यों धार्मिक कहो ?
कुछ देखकर ही मत रहो, सोचो विचारो चित्त में,
बस, तत्व है अमरत्व का वर-वृत्तरूपी वित्त में ॥

यह देख लो निज धर्म्म का सम्मान ऐसा चाहिए,
सोचो हृदय में सत्यता का ध्यान जैसा चाहिए !
सहृदय जिसे सुनकर द्रवित हों चरित वैसा चाहिए,
अति भव्य भावों का नमूना और कैसा चाहिए ?

क्या पाप की ही जीत होती, हारता है पुण्य ही ?
इस दृश्य को अवलोक कर तो जान पड़ता है यही।
धर्म्मार्थ दुःख सहे जिन्होंने पार्थ मरणासन्न[1] हैं,
दुष्कर्म ही प्रिय हैं जिन्हें वे धार्तराष्ट्र प्रसन्न हैं !

परिणाम सोच न भीम-सात्यकि रह सके क्षण भर खड़े,
'हा कृष्ण !' कह हरि के निकट वेहोश होकर गिर पड़े।
यों देखकर उनकी दशा दृग वन्द कर अरविन्द-से,
कहने लगे अर्जुन वचन इस भाँति फिर गोविन्द से—

"रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं !
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-वल है सव कहीं।
जलकर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी,
अच्युत ! युधिष्ठिर आदि का सव भार है तुम पर सभी ॥

सन्देश कह दीजो यही सवसे विशेष विनय-भरा—
खुद ही तुम्हारा जन धनञ्जय धर्म के हित है मरा।
तुम भी कभी निज प्राण रहते धर्म को मत छोड़ियो,
वैरी न जव तक नष्ट हों मत युद्ध से मुहँ मोड़ियो ॥

थे पाण्डु के सुत चार ही, यह सोच धीरज धारियो;
हों जो तुम्हारे प्रण-नियम उनको कभी न विसारियो।
है इष्ट मुझको भी यही यदि पुण्य मैंने हों किए,
तो जन्म पाऊँ दूसरा मैं वैर-शोधन के लिए ॥

१. मरने के समीप।

कुछ कामना मुझको नहीं है इस दशा में स्वर्ग की,
इच्छा नहीं रखता अभी मैं अल्प भी अपवर्ग की।
हा ! हा ! कहाँ पूरी हुई मेरी अभी आराधना,
अभिमन्यु विषयक वैर की है शेष अब भी साधना !

कहना किसी से और मुझको अब न कुछ सन्देश है,
पर शेष दो जन हैं अभी जिनका बड़ा ही क्लेश है।
कृष्णा-सुभद्रा से कहूँ क्या ? यह न होता ज्ञात है,
मैं सोचता हूँ किन्तु हा ! मिलती न कोई बात है ॥

जैसे बने समझा बुझाकर धैर्य सबको दीजियो;
कह दीजियो, मेरे लिए मत शोक कोई कीजियो।
अपराध जो मुझसे हुए हों वे क्षमा करके सभी,
कृपया मुझे तुम याद करियो स्वजन जान कभी कभी ॥

हा धर्मधीर अजातशत्रो ! आर्य्य भीम ! हरे ! हरे !
हा प्रिय नकुल ! सहदेवभ्रातः ! उत्तरे ! हा उत्तरे !
हा देवि कृष्णे ! हा सुभद्रे ! अब अधम अर्जुन चला;
धिक् है—क्षमा करना मुझे—मुझसे हुआ रिपु का भला।

जैसा किया होगा प्रथम वैसा हुआ परिणाम है,
माधव ! विदा दो बस मुझे अब, बार बार प्रणाम है
इस भाँति मरने के लिए यद्यपि नहीं तैयार हूँ,
पर धर्म्म-बन्धन-बद्ध हूँ मैं क्या करूँ लाचार हूँ ॥"

इस भाँति अर्जुन के वचन श्रीकृष्ण थे जब सुन रहे,
हँसकर जयद्रथ ने तभी ये विष-वचन उनसे कहे—
"गोविन्द ! अब क्या देर है ? प्रण का समय जाता टला,
शुभ-कार्य जितना शीघ्र हो, है नित्य उतना ही भला ॥"

सुनकर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आ गई,
गम्भीर श्यामल मेघ में विद्युच्छटा-सी छा गई।
कहते हुए यों—वह न उनका भूल सकता वेश है—
"हे पार्थ ! प्रण पालन करो, देखो अभी दिन शेष है।"

हो पूर्ण जब तक पार्थ-प्रति प्रभु का कथन ऊपर कहा,
तब तक महा अद्‌भुत हुआ यह एक कौतुक-सा अहा !
मार्तण्ड अस्ताचल निकट घन-मुक्त-सा देखा गया !
है जान सकता कौन हरि का कृत्य नित्य नया नया ?

था पार्थ के हित के लिए यह खेल नटवर ने किया,
दिन शेष रहते सूर्य को था अस्त-सा दिखला दिया।
अनुकूल अवसर पर उसे फिर कर दिया यों व्यक्त है,
वह भक्तवत्सल भक्त पर रहता सदा अनुरक्त है ॥

तत्काल अर्जुन की अचानक नींद मानो हट गई,
सब हो गई उनको विदित माया महा-विस्मयमयी।
अवलोक तब हरि को उन्होंने एक बार विनोद से,
निकटस्थ शीघ्र उठा लिया गाण्डीव अति आमोद से ॥

बोले वचन तब पार्थ उनसे लीन हो कर रोष में—
"क्या निज जनों का त्राण करना सम्मिलित है दोष में ?
मेरा नियम यह है जहाँ तक बाण मेरा जायगा,
अपने जनों को आपदा से वह अवश्य बचायगा ॥

नास्तिक मनुज भी विपद में करते विनय भगवान से,
देते दुहाई धर्म्म की त्यों आज तुम भी ज्ञान से।
लज्जा नहीं आती तुम्हें उपदेश देते धर्म्म का ?
आती हँसी तुम पापियों से नाम सुन सत्कर्म का ॥

देखे बिना निज कर्म पहले बोध देना व्यर्थ है,
होता नहीं सद्धर्म कुछ उपदेश के ही अर्थ है।
तुम सात ने जब वध किया था एक बालक का यहाँ,
रे पामरो ! तब यह तुम्हारा धर्म सारा था कहाँ ?

पापी अनुज भी आज मुहँ से राम नाम निकालते !
देखो भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते !
आजन्म नीच अधर्म्मियों के जो रहे अधिराज हैं—
देते अहो ! सद्धर्म की वे भी दुहाई आज हैं !!!"

सुनकर वचन यों पार्थ के चुप रह गये वैरी सभी,
दोषी किसी के सामने क्या सिर उठा सकते कभी ?
भूरिश्रवा का वध किया ले खड्ग सात्यकि ने वहीं,
'जिसकी सिरोही सिर उसी का', उचित यह कर दी सही ॥

तब कर्ण ने दस दस शरों से विद्ध कर हरि-पार्थ को,
दर्शित किया मानो वहाँ दुगुने प्रबल पुरुषार्थ को।
पर सूत, हय, रथ और उसका नष्ट करके चाप भी,
कर चौगुना विक्रम हुए शोभित धनंजय आप भी॥

तत्काल ही फिर लक्ष्य करके कर्ण के वर वक्ष को,
छोड़ा कपिध्वज ने कुपित हो एक बाण समक्ष को,
पर बीच में ही द्रोण-सुत ने काट उसको बाण से,
जाते हुए लौटा लिये उस वीरवर के प्राण-से॥

फिर एक साथ असंख्य शर सब शत्रुओं ने मार के,
नरसिंह अर्जुन को किया ज्यों पंजरस्थ प्रचार के।
पर भस्म होता है यथा ईंधन कराल कृशानु से,
ऐन्द्रास्त्र से कर नष्ट वे शर पार्थ प्रकटे भानु-से॥

टंकार ही निर्घोष था, शर-वृष्टि ही जल-वृष्टि थी;
जलती हुई रोषाग्नि ही उद्दीप्त विद्युत्दृष्टि थी।
गाण्डीव रोहित-रूप था, रथ ही सशक्त-समीर था;
उस काल अर्जुन वीर-वर अद्भुत-जलद गम्भीर था॥

थे दिव्य-वर पाये हुए सब शत्रु भी पूरे बली,
अतएव वे भी स्थित रहे सह पार्थ-शर-धारावली।
इस ओर यों ही हो रहा जब युद्ध यह उद्दण्ड था,
उस ओर अस्ताचल-निकट तब जा चुका मार्तण्ड था॥

फिर देखते ही देखते वह अस्त भी क्रम से हुआ,
कब तक रहेगा वह अटल जो क्षीण-बल श्रम से हुआ ?
प्रण पूर्ण पार्थ न कर सके, रवि प्रथम ही घर को गया,
सम्भावना ही थी न जिसकी हाय ! यह क्या हो गया !

उस काल पश्चिम ओर रवि की रह गई बस लालिमा,
होने लगी कुछ प्रकट-सी यामिनी की कालिमा।
सब कोक-गण शोकित हुए विरहाग्नि से डरते हुए,
आने लगे निज निज गृहों को विहग रव करते हुए ॥

यों अस्त होना देख रवि का पार्थ मानो हत हुए,
मुंदते कमल के साथ वे भी विमुद, गौरवगत हुए।
लेकर उन्होंने श्वास ऊँचा, वदन नीचा कर लिया,
संग्राम करना छोड़कर गाण्डीव रथ में रख दिया ॥

पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की इससे सुखी,
पर चिह्न पाकर कुछ न उसके व्यग्र चिन्तायुत दुखी,
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ क्षोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय के कुसुम-सम शोभित हुए ॥

इस ओर आना जान निशि का थे मुदित निश्चर बड़े,
उस ओर प्रमुदित शत्रुओं के हाथ मूंछों पर पड़े।
दुर्योधनादिक कौरवों के हर्ष का क्या पार था—
मानो उन्होंने पा लिया त्रैलोक्य का अधिकार था ॥

हो मुग्ध गृद्ध्र किसी किसी के लोचनों को खींचते,
यह देखकर घायल मनुज अपने दृगों को मींचते।
मानो न अब भी वैरियों का मोह पृथ्वी से हटा,
लिपटे हुए उससे पड़े, दिखला रहे अन्तिम छटा!

यद्यपि हमारे रथ-हयों को श्रम हुआ सविशेष है,
पर भूल-सा उनको गया इस समय सारा क्लेश है।
पश्वादि[1] भी निज स्वामियों के भाव को पहचानते,
सब निज जनों के दुःख में दुःख, सौख्य में सुख मानते॥

इस ओर देखो, रक्त की यह कीच कैसी मच रही!
है पट रही खण्डित हुए वहु रुण्ड-मुण्डों से मही।
कर-पद असंख्य कटे पड़े, शस्त्रादि फैले हैं तथा,
रंगस्थली ही मृत्यु का एकत्र प्रकटी हो यथा!

दुर्योधनानुज हैं पड़े ये भीम के मारे हुए,
काम्बोज-नृप वे सात्यकी के हाथ से हारे हुए।
मृत अच्युतायु-श्रुतायु हैं ये, वह अलम्बुप है मरा,
वह सोमदत्तात्मक पड़ा है, रक्त-रंजित है धरा॥

यद्यपि निहत होकर पड़े ये वीर अब निःशक्त हैं,
पर कौरवों का तेज अब भी कर रहे ये व्यक्त हैं।
बल-विभव में कुरुराज सचमुच दूसरा सुरराज है,
पाई विजय प्रारब्ध से ही पार्थ! तुमने आज है॥"

१. पशु आदिक।

श्रीकृष्ण के प्रति वचन तब बोले धनंजय भक्ति से—
"क्या कार्य्य कर सकता हरे! मैं आप अपनी शक्ति से?
है सब तुम्हारी ही कृपा, हूँ नाम का ही वीर मैं;
भूला नहीं अब तक तुम्हारा वह विराट शरीर मैं॥

है कालचक्र सदा तुम्हारा चल रहा संसार में,
सर्वत्र तेजःपुञ्ज-सा है जल रहा संसार में!
पर देखने में चर्म के ये चक्षु अति असमर्थ हैं,
तब तो मनुज कर्तृत्व का अभिमान करते व्यर्थ हैं॥

किसकी महत्ता थी कि जिसने आज प्रण की पूर्ति की!
हिल जाय पत्ता तो कहीं सत्ता विना इस मूर्ति की!
चलता 'सुदर्शन' यदि न तो दिन ढल गया होता तभी,
अर्जुन चितानल में कभी का जल गया होता अभी!

होते तुम्हारे कार्य्य सारे गूढ़ भेदों से भरे,
हृदयस्थ, तुम जो कुछ कराते, मैं वही करता हरे!
अनुचित-उचित के ज्ञान को कुछ भी नहीं मैं जानता;
जो प्रेरणा करता विमल मन, मैं उसी को मानता॥"

हाँ, एक बात अवश्य है"—रुककर धनंजय ने कहा—
"यद्यपि तुम्हारा ही किया है जो जगत में हो रहा।
बनते नहीं हो किन्तु उसके तुम स्वयं कारण कहीं,
क्या ही चतुर हो, दोष-गुण करते स्वयं धारण नहीं।"

हँसते हुए तब पार्थ बोले अन्य विध वचनावली—
"गोविन्द ! हो तो तुम बड़े ही क्रूर, मायावी, छली।
रवि को छिपाने के प्रथम मुझको सचेत किया नहीं;
आ जाय मरने की दशा ऐसी हँसी होती कहीं ?"

हँसने लगे तब हरि अहा ! पूर्णेन्दु-सा मुख खिल गया,
हँसना उसीमें भीम, अर्जुन, सात्यकी का मिल गया !
थे मोद और विनोद के सब सरस झोंके झेलते,
भगवान भक्तों से न जाने खेल क्या क्या खेलते ?

उन्मत्त विजयोल्लास से सब लोग मत्त-गयन्द-से,
राजा युधिष्ठिर के निकट पहुँचे बड़े आनन्द से।
देखा युधिष्ठिर ने उन्हें जब, जान ली निज जय तभी,
मुख चिह्न से ही चित्त की बुध जान लेते हैं सभी ॥

तब अर्जुनादिक ने उन्हें बढ़कर प्रणाम किया वहाँ,
सिर पर उन्होंने हाथ रख सुख दिया और लिया वहाँ।
सब लोग उनको घेरकर थे उस समय उत्सुक खड़े,
बोले युधिष्ठिर से स्वभू[1] सुन्दर सुमन मानो झड़े—

"हे तात ! जीत हुई तुम्हारे पुण्य-पूर्ण प्रताप से,
रण में जयद्रथ-वध हुआ, छूटे धनंजय ताप से।
तुमने इन्हें सौंपा सवेरे था हमारे हाथ में,
सो लीजिए अपनी धरोहर, सुख-सुयश के साथ में ॥"

१. श्रीकृष्ण।

सुनकर मधुर घन-शब्द को पाते प्रमोद मयूर ज्यों,
श्रीकृष्ण के सुन वचन सबको सुख हुआ भरपूर त्यों।
राजा युधिष्ठिर हर्ष से सहसा न कुछ भी कह सके,
थे भक्ति के गुरु-भार से मानो वचन उनके थके॥

"साक्षात् चराचरनाथ, तुम रखते स्वयं जब हो दया,
आश्चर्य क्या फिर जो जयद्रथ युद्ध में मारा गया?
तो भी इसे सुनकर हृदय में सुख समाता है नहीं,
साधन-सफलता-सुख-सदृश सुख दृष्टि आता है नहीं॥

वह विज्ञ तत्वज्ञानियों ने बात यह मुझसे कही—
माधव! तुम्हें जो इष्ट होता सर्वदा होता वही।
अज्ञानता से मूर्ख जन मानव तुम्हें हैं मानते,
ज्ञानी, विवेकी, विज्ञवर, विश्वेश तुमको जानते॥

जो कुछ किया तुमने स्वयं हे देव-देव! हुआ वही,
जो कुछ करोगे तुम स्वयं आगे वही होगा सही।
जो कुछ स्वयं तुम कर रहे हो, हो रहा अब है तथा,
हैं हेतुमात्र सदैव हम, कर्त्ता तुम्हीं हो सर्वथा॥

हो निर्विकार तथापि तुम हो भक्तवत्सल सर्वदा,
हो तुम निरीह तथापि अद्भुत सृष्टि रचते हो सदा।
आकार-हीन तथापि तुम साकार सन्तत सिद्ध हो,
सर्वेश होकर भी सदा तुम प्रेम-वश्य प्रसिद्ध हो।

इस स्वप्न के-से दृश्य से सब शत्रु विस्मित रह गये,
कर्त्तव्यमूढ़-समान वे नैराश्य-नद में वह गए।
उस काल उनका तेज मानो पार्थ को ही मिल गया,
तब तो सदा से सौगुना मुख शीघ्र उनका खिल गया ॥

हो भीम-सात्यकि भी सजग आनन्द रव करने लगे,
निज यत्न निष्फल देखकर वैरी सभी डरने लगे,
तब सम्मुख स्थित जाल-गत जो था हरिण-सा हो रहा,
उस खल जयद्रथ से कुपित हो यों धनञ्जय ने कहा—

"रे नीच ! अब तैयार हो तू शीघ्र मरने के लिये,
मेरा यही अवसर समझ प्रण पूर्ण करने के लिये।
है व्यर्थ चेष्टा भागने की, मृत्यु का तू ग्रास है,
भज 'रामनाम' नृशंस ! अब तो काल पहुँचा पास है ॥"

गति देख अन्य न एक भी निज कर्म के दुर्दोष से,
करने लगा तत्क्षण जयद्रथ शस्त्र वर्षा रोष से।
आशा नहीं रहती जगत में प्राण रहने की जिसे,
उसका भयंकर-वेग सहसा सह्य हो सकता किसे ?

पर पार्थ ने सह ली व्यथा सब शत्रु के आघात की,
आनन्द के उत्थान में रहती नहीं सुध गात की !
गाण्डीव से तत्काल वे भी बाण बरसाने लगे,
जो उग्र उल्का-खण्ड-से चण्डच्छटा छाने लगे ॥

कर्णादि ने की व्यक्त फिर भी युद्ध कौशल की कला,
पर हो गई चेष्टा विफल सब, वस न उनका कुछ चला ॥
विचलित-दलित करता द्रुमों को प्रवल-झंझानिल यथा,
सब शत्रुओं को पार्थ ने पल में किया विह्वल तथा ॥

फिर पुष्प-माला युक्त मंत्रित दिव्यद्युति के ओघ[1]-सा—
रक्खा धनंजय ने धनुप पर वाण एक अमोघ-सा।
क्षण भर उसे सन्धानने में वे यथा शोभित हुए,
हों भाल-नेत्र-ज्वाल हर ज्यों छोड़ते क्षोभित हुए ॥

वह शर इधर गाण्डीव-गुण[2] से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ थे जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।
रक्ताक्त वह सिर व्योम में उड़ता हुआ कुछ दूर-सा,
दीखा अरुणतम उस समय के अस्त होते सूर-सा ॥

अर्जुन विशिख तो लौट आया पर न रिपु का सिर फिरा,
अपने पिता की गोद में ही वह अचानक जा गिरा।
रण से अलग उसका पिता तप कर रहा था रत हुआ[3],
भगवान की इच्छा, तनय के साथ वह भी हत हुआ ॥

१. समूह, २. गुण=प्रत्यंचा।
३. जयद्रथ के पिता वृद्धक्षत्र ने घोर तपस्या करके यह वर प्राप्त किया था कि जिसके द्वारा मेरे पुत्र का सिर पृथ्वी पर गिरे उसका सिर भी उसी समय सौ टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। जिस समय अर्जुन का छोड़ा पाशुपत अस्त्र जयद्रथ के सिर को लेकर चला उस समय वृद्धक्षत्र समन्त-पञ्चक तीर्थ में सायं-संध्या कर रहे थे।

श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम, सात्यकि शंख-रव करने लगे,
हर्षित हुए सबके वदन, मन मोद से भरने लगे।
प्रत्यक्ष कौरव पक्ष की तब नासिका-सी कट गई,
मानो विकल कुरुराज की शोकार्त्त छाती फट गई॥

पाशुपत के प्रभाव से जयद्रथ का सिर वहीं उनकी गोद में जा गिरा। वे घबड़ाकर सहसा उठ खड़े हुए। उनके उठते ही वह सिर उनकी गोद से पृथ्वी पर गिर पड़ा। साथ ही उनका सिर भी सौ टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

सप्तम सर्ग

इस विध जयद्रथ-वध हुआ, पूरा हुआ प्रण पार्थ का;
अब धर्मराजार्जुन मिलन है, मिलन ज्यों धर्मार्थ का।
वर्णन अतः उसका यहाँ पर है उचित ही सर्वथा,
सर्वत्र ही कथनीय है सुख-सम्मिलन की शुभ-कथा ॥

सूर्यास्त होना जानकर फिर जब लड़ाई रुक गई,
निष्प्रभ पराजित कौरवों की रण-पताका झुक गई,
तब नृप युधिष्ठिर के निकट आनन्द से जाते हुए,
बोले वचन हरि पार्थ से रण-भूमि दिखलाते हुए—

"हे वीर! देखो, आज तुम संग्राम में कैसे लड़े,
मरकर तुम्हारे हाथ से ये शत्रु कितने हैं पड़े!
ज्यों कंज-वन की दुर्दशा कर डालता गजराज है,
शोभित तुम्हारे शौर्य्य से त्यों यह रणस्थल आज है ॥

जो तुच्छ अपने सामने थे इन्द्र को भी मानते—
जो कुछ कहो बस हैं हमीं, जो थे सदा यह जानते।
वे शत्रु, देखो, आज भू पर सर्वदा को सो रहे;
हैं मर चुके लाखों तथा घायल हजारों हो रहे ॥

झुकते किसी को थे न जो नृप-मुकुट रत्नों से जड़े,
वे अब शृगालों के पदों की ठोकरें खाते पड़े।
पेशी[1] समझ माणिक्य को वह विहग देखो, ले चला,
पड़ भोग की ही भ्रान्ति में संसार जाता है छला ॥

[1]. बोटी।

करते तुम्हारा ही मनन, मुनि रत तुम्हीं में ऋषि सभी,
सन्तत तुम्हीं को देखते हैं ध्यान में योगीन्द्र भी।
विख्यात वेदों में विभो ! सबके तुम्हीं आराध्य हो,
कोई न तुमसे है बड़ा, तुम एक सबके साध्य हो ॥

पाकर तुम्हें फिर और कुछ पाना न रहता शेष है;
पाता न जब तक जीव तुमको भटकता सविशेष है।
जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते,
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते ॥

हे सच्चिदानन्द प्रभो ! तुम नित्य सर्व सशक्त हो,
अनुपम, अगोचर, शुभ, परात्पर ईश-वर अव्यक्त हो।
तुम ध्येय, गेय, अजेय हो, निज भक्त पर अनुरक्त हो,
तुम भवविमोचन, पद्मलोचन, पुण्य, पद्मासक्त हो ॥

तुम एक होकर भी अहो ! रखते अनेकों वेश हो,
आद्यन्त-हीन, अचिन्त्य, अद्भुत, आत्म-भू अखलेश हो।
कर्त्ता तुम्हीं, भर्त्ता तुम्हीं, हर्त्ता तुम्हीं हो सृष्टि के,
चारों पदार्थ दयानिधे ! फल हैं तुम्हारी दृष्टि के ॥

हे ईश ! बहु उपकार तुमने सर्वदा हम पर किये,
उपहार प्रत्युपकार में क्या दें तुम्हें इसके लिए ?
है क्या हमारा सृष्टि मे ? यह सब तुम्हीं से है बनी,
सन्तत ऋणी हैं हम तुम्हारे, तुम हमारे हो धनी ॥

जय दीनबन्धो, सौख्य-सिन्धो, देव-देव, दयानिधे,
जय जन्म-मृत्यु-विहीन, शाश्वत, विश्व-वन्द्य, महाविधे।
जय पूर्ण-पुरुषोत्तम, जनार्दन, जगन्नाथ, जगद्गते,
जय जय विभो, अच्युत हरे, मंगलमते, मायापते!"

कहते हुए यों नृप युधिष्ठिर मुग्ध होकर रुक गये,
तत्क्षण अचेत-समान फिर प्रभु के पदों में झुक गये।
बढ़कर उन्हें हरि ने हृदय से हर्षयुक्त लगा लिया,
आनन्द ने सत्प्रेम का मानो शुभालिंगन किया॥

वह भक्त का भगवान से मिलना नितान्त पवित्र था,
प्रत्यक्ष ईश्वर-जीव का संगम अतीव विचित्र था॥
मानो सुकृत आकर स्वयं ही शील से थे मिल रहे,
युग श्याम-गौर सरोज मानो साथ ही थे खिल रहे॥

करने लगे सब लोग तब आनन्द से जयनाद यों—
त्रैलोक्य को हों दे रहे निर्भय विजय-संवाद ज्यों।
अन्यत्र दुर्लभ है भुवन में बात यों उत्कर्ष की,
सचमुच कहीं समता नहीं है भव्य भारतवर्ष की॥

दुःख दुःशलादिक का अभी कहना यदपि अवशिष्ट है,
पर पाठकों का जी दुखाना अब न हमको इष्ट है।
कर बार बार क्षमार्थना होते विदा अब हम यहीं,
सुख के समय दुःख की कथा अच्छी नहीं लगती कहीं॥